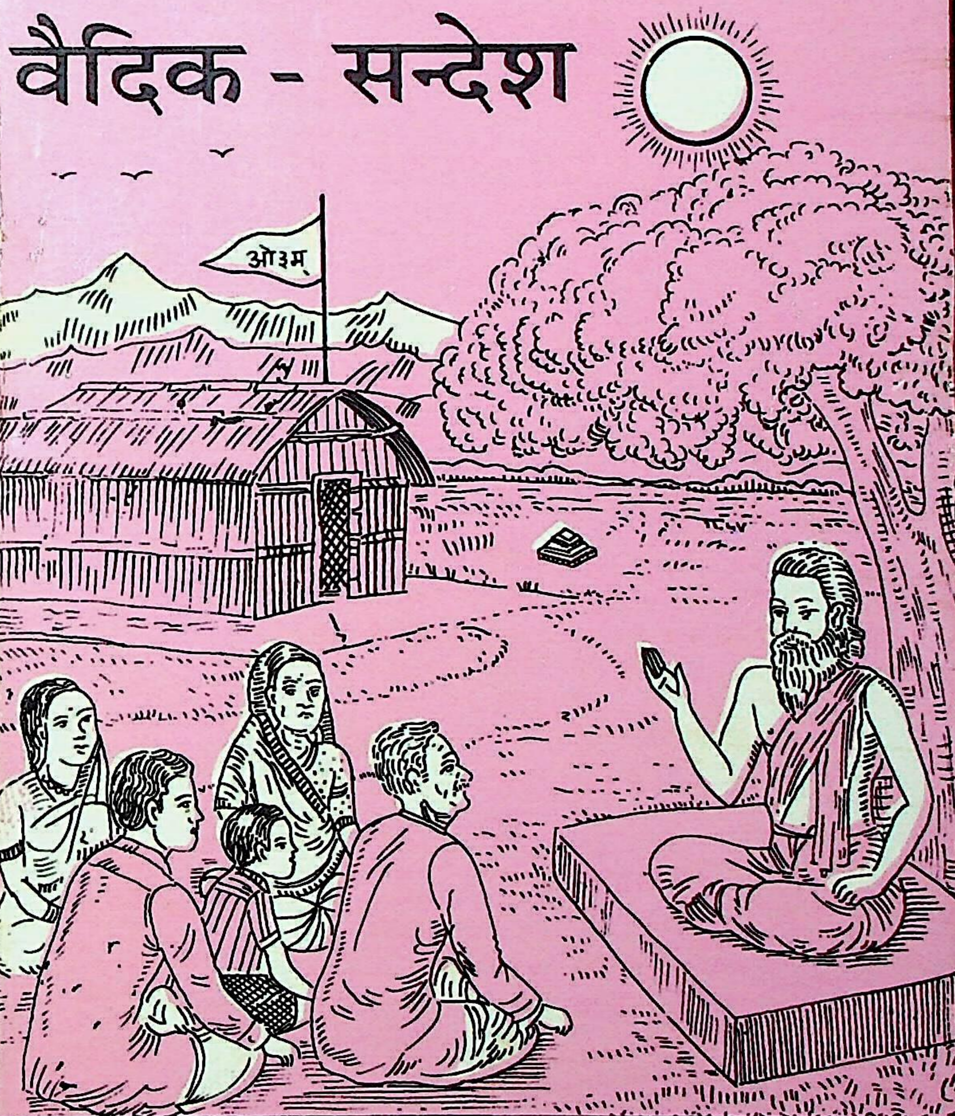
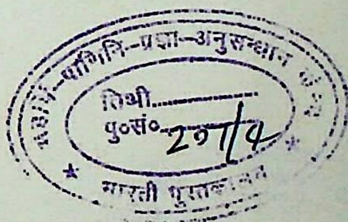
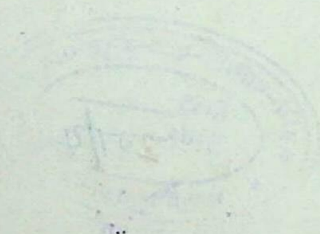
वैदिक - सन्देश

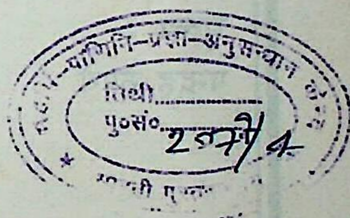


डॉ. सोमदेव शास्त्री


तिथी
पु०सं०






पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी
पु०सं०

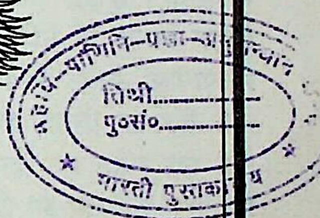
प्रकाशक :-
सोमदेव शास्त्री
आर्य समाज सान्ताक्रुज
मुम्बई-५४.

संस्करण-प्रथम
विक्रम संवत् -२०५५

मूल्य :-
पन्द्रह रुपये

मुद्रक :-
निराला मुद्रक
१४०, साने गुरुजी मार्ग,
चिंचपोकळी, मुम्बई-११.
फोन : ३०८४५०९





वैदिक - सन्देश

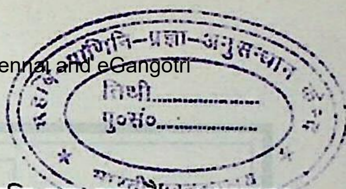


लेखक

डॉ. सोमदेव शास्त्री

आर्य समाज सान्ताक्रुज (पश्चिम)

मुम्बई-५४.



प्राक्कथन

आज ज्ञान विज्ञान में मनुष्य निरन्तर प्रगति कर रहा है। कम्प्युटर और टेक्नोलोजी के क्षेत्र में विशेष प्रयत्नशील होने के कारण मनुष्य उसमें सफलता प्राप्त कर रहा है, वैज्ञानिक क्षेत्र में अनेक आविष्कार हो रहे हैं, ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, प्रयोगशालाएं बनायी जा रही है। इस प्रकार मनुष्य भौतिक क्षेत्र में उन्नति के शिखर पर पहूँच रहा है। ईश्वर-धर्म-कर्मफल-पुनर्जन्मादि आध्यात्मिक विषयों पर भारतीय मनीषियों ने गहन चिन्तन किया, इनका विस्तृत वर्णन करके बहुविध शास्त्रों की रचना भी की। भौतिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति के द्वारा ही मनुष्य का विकास हो सकता है। मनुष्य सही अर्थो में अपने मानव धर्म का पालन कर सकता है तथा वैज्ञानिक साधनों का सदुपयोग कर सकता है।

ईश्वर है या नहीं है, है तो कैसा है, कहां है, कहां नहीं है। धर्म की क्या आवश्यकता है, कर्म का फल मनुष्य को मिलता है या नहीं, पुनर्जन्म होता या नहीं होता है ब्रह्म ही सत्य है तथा संसार भी सत्य है या नहीं है इत्यादि विषयों का वेदादि शास्त्रो में विस्तृत रूप से विवेचन किया गया है। आंधुनिक युग में मनुष्य शीघ्र ही विविध विषयों की जानकारी चाहता है। इसलिये उपरोक्त विषयों के बारे में वेदादिशास्त्रों में क्या लिखा हुआ है। इसका वर्णन संक्षिप्त रूप से ''वैदिक सन्देश'' नामक इस लघु पुस्तिका में किया गया है। विस्तृत जानकारी तो वेद-दर्शनादि ग्रन्थों के द्वारा प्राप्त होगी किन्तु उन विषयों में हमारे शास्त्र क्या सन्देश दे रहै हैं? इसको उपस्थित करने का यत्न इस पुस्तक में किया है। आज मनुष्य का जीवन बहुत ही व्यस्त हो गया, इसलिये थोडे समय में विस्तृत जानकारी चाहता है, यह पुस्तक ईश्वर-धर्म-शास्त्र-पंचमहायज्ञ-वर्णाश्रम-कर्मफल-पुनर्जन्म-त्रैतवाद-संस्कारादि विषयों की थोड़े यथार्थ जानकारी देने में उपयोगी सिद्ध हो इसी दृष्टि से लिखी गयी है।

विदुषामनुचर

– सोमदेव शास्त्री

विषय सूची

ईश्वर

सृष्टिकर्ता :

संसार में दो प्रकार के पदार्थ है। एक तो वे पदार्थ है जिनके बनाने वाले को हम देखते हैं। जैसे भोजन को बनाने वाला रसोईयां, मिट्टी से घड़ा बनाने वाला कुम्हार, मकान बनाने वाला मिस्त्री आदि। जिस मकान में हम रहते हैं, उस मकान को मिस्त्री के द्वारा निर्माण होते हमने नहीं देखा है फिर भी मकान के विषय में हमको यह सन्देह नहीं होता है कि मकान अपने आप बन गया है। इसका बनाने वाला कोई नहीं है। इसी प्रकार जिस कपड़े को हम पहनते हैं या जिस घड़े का पानी हम पीते हैं, कपड़े या घड़े के विषय में भी किसी को भी यह शंका नहीं होती है कि बिना कुम्हार के घड़ा या बिना जुलाहे के कपड़ा अपने आप बन गया है। हम जिस कपड़े या घड़े का उपयोग करते हैं या जिस घर में हम रहते हैं उसको बनाते हुए ही हमने नहीं देखा किन्तु दूसरे मकान, वस्त्र और घड़े को बनाते हुए देखा है। इसलिए हम यह निश्चित रूप से स्वीकार करते हैं कि इन पदार्थों का कोई बनाने वाला कर्ता है। कर्ता के बिना ये पदार्थ स्वयं नहीं बनते हैं।

दूसरे प्रकार के वे पदार्थ है, जिनको बनाते हुए हमने नहीं देखा है। जैसे सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, पहाड़, नदी, समुद्रादि। जिस लकड़ी से बढ़ई कुर्सी बनाता है या जिस मिट्टी से कुम्हार घड़ा बनाता है उस लकड़ी (वृक्ष) या मिट्टी का निर्माण मनुष्य नहीं कर सकता है। गेहूं के आटे से रोटी, पूड़ी, हलवा आदि विविध प्रकार के व्यंजन रसोईया बना लेता है किन्तु गेहू का निर्माण नहीं कर सकता है सोने, चांदी को नहीं बना सकता है।

आम, अंगूर, सेव आदि फलों की नकल करके मनुष्य ने मिट्टी या प्लास्टिक आदि के नकली आम, अंगूर आदि रूप रंग में ऐसे ही बना दिये हैं, जिन को देखकर बुद्धिमान् मनुष्य भी धोखा खा जाता है कि असली है या नकली है किन्तु मिट्टी व प्लास्टिक के फलों में मनुष्य

वह मिठास नहीं डाल सका जो असली फलों में है। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि फल, मिट्टी, अनाज तथा सूर्य चन्द्रादि पदार्थों का निर्माण करनेवाला मनुष्य नहीं अपितु ईश्वर है।

जब मनुष्य चावल या दाल पकाता है तब दाल या चावल पक गये हैं या नहीं यह जानने के लिए जिस बर्तन में दाल, चावल पक रहे हैं उसमें से एक दो दाने दाल या चावल के निकालकर देखता है, यदि वे दाने पक गये हैं तो बर्तन के सभी चावल पक गये हैं और यदि नहीं पके हैं तो वे बर्तन में पक रहे दाल या चावल अभी नही पके हैं, यह निश्चित करता है। इसको संस्कृत में ''स्थालीपुलाक न्याय'' कहते हैं। इसी प्रकार जैसे कपड़ा, घड़ा, मकानादि पदार्थों का बनाने वाला है, वैसे ही सूर्य-चन्द्र-पृथ्वी आदि पदार्थों की रचना करनेवाला भी कोई अवश्य है। यदि मकान स्वयं नहीं बनता है तो पहाड़ या पृथ्वी भी स्वयं नहीं बनते हैं। इनका भी बनाने वाला है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। यदि नहर को खोदकर मनुष्य बनाते है तो नदी और समुद्र को बनाने वाला भी परमेश्वर है। यदि घड़े और कपड़े को बनाने वाला कुम्हार और जुलाहा है तो मिट्टी और कपास को बनाने वाला परमेश्वर है। इसलिए परमात्मा को सृष्टिकर्ता कहा जाता है। जो इस संसार की रचना करता है। वेदान्त दर्शन (जन्माद्यस्य यतः १-२) में भी लिखा है कि परमात्मां संसार को बनानेवाला, इसका पालन करनेवाला और इसका प्रलय करने वाला है।

निर्माता भेद

मनुष्य और ईश्वर दोनों ही पदार्थों का निर्माण करते हैं। किन्तु कौन सा पदार्थ ईश्वर रचित है और कौन सा पदार्थ मनुष्य रचित है। इसका विवेचन करते हुए विद्वानों ने स्पष्ट किया है कि ''जो पदार्थ बनकर तैयार हुआ है, उसके बाद धीरे धीरे इनकी सुन्दरता में, शक्ति में क्षीणता-न्यूनता होने लगती है और एक दिन वे नष्ट हो जाते हैं। वे पदार्थ मनुष्य रचित हैं। ईश्वर जिन पदार्थों को बनाता है वे धीरे-धीरे बढ़ते हैं, पूर्ण शक्ति सम्पन्न होते हैं और उसके बाद धीरे-धीरे उन में क्षीणता प्रारम्भ होती है और एक दिन नष्ट हो जाते है। जैसे वृक्ष-पौधे

के रूप में प्रकट होता है धीर-धीरे बढ़ता है और अपने पूर्ण विकसित रूप में दीखता है। फूल आते हैं, फल आंते हैं उसके बाद धीरे-धीरे क्षीण होना आरम्भ होता है और एक दिन नष्ट हो जाता है ।

मनुष्य का जन्म होता है तब बच्चे के रूप में पैदा होता है, धीरे-धीरे चन्द्रमा की कला की तरह बढ़ता जाता है और पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह युवक होता है और उसके बाद धीरे-धीरे (वृद्धावस्था) बुढ़ापे की तरफ कदम रखता है उसकी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है और एक दिन मृत्यु हो जाती है जैसे अमावस्या को चन्द्रमा आखों से ओझल हो जाता है वैसे मनुष्य भी संसार से बिदा हो जाता है, इससे स्पष्ट होता है कि मानव शरीर ईश्वर की रचना है ।

मनुष्य और ईश्वर दोनों ही रचयिताओं में यह भेद है कि जिसको मनुष्य बनाता है उसको ईश्वर नहीं बनाता है और जिसकी रचना ईश्वर करता है, उसकी रचना मनुष्य नहीं कर सकता है । मनुष्य रोटी, कपड़ा और घड़ा आदि बनाता है । परमेश्वर रोटी, कपड़ा, घड़ा आदि नहीं बनाता है और ईश्वर अनाज कपास, मिट्टी का रचयिता है । इनको मनुष्य नहीं बना सकता है । अर्थात् जिस कार्य को मनुष्य करता है उसको ईश्वर नहीं कर सकता तथा जिसको ईश्वर करता है उसको मनुष्य नहीं कर सकता है । यही दोनों के कर्तृत्व में भिन्नता है ।

नियम बद्धता :

संसार में सब जगह नियम विद्यमान है । मनुष्य अग्नि को हाथ पर रखे तो उसका हाथ जलने लगता है । दिल्ली-मुम्बई-कलकत्तादि कहीं पर भी अग्नि को हाथ पर रखे तो उसका जलता है । ऐसा नही है कि मुम्बई में तो अग्नि से हाथ जलता है और दिल्ली या कलकत्ता में अग्नि से हाथ नहीं जलता है । यह नियम भारत में ही हो ऐसा नहीं है । अपितु भारत या भारत के बाहर विश्व के किसी भी देश में मनुष्य अग्नि पर हाथ रखता है तो उसका हाथ जलता है । इस से स्पष्ट होता है कि यह नियम सब जगह विद्यमान है। इसे हम सार्वदेशिक (सभी देशों में पाया जाने वाला) नियम कह सकते हैं। आज अग्नि से हाथ जलता है । हजारों वर्ष पहले भी अग्नि से हाथ जलता था और पचास

वर्ष बाद भी कोई अग्नि को हाथ पर रखेगा तो हाथ जलेगा। अर्थात् यह नियम सदा रहता है । हर समय रहने वाले नियम को सार्वकालिक नियम कह सकते हैं। नियम किसी नियामक (नियम बनाने वाले) का संकेत करता है। बिना नियामक के नियम नहीं हो सकता है । नियम से स्पष्ट होता है कि नियम का बनानेवाला कोई नियामक है ।

वनस्पति जगत् में भी नियम और व्यवस्था दृष्टि गोचर होती है । बीज से अंकुर, अंकुर से पौधा, पौधे का वृक्ष बनता है । यह नियम सब जगह पाया जाता है । आम की गुठली (बीज) से आम का वृक्ष तथा जामुन की गुठली से जामुन का वृक्ष होता है । ऐसा नहीं होता है कि आम की गुठली से जामुन का वृक्ष हो जाता हो और जामुन की गुठली बोने से आम का वृक्ष हो जाता है । यह नियम भी सब जगह पाया जाता है । पचास वर्ष पहले भी ऐसा ही था । आज भी ऐसा ही है और पचास वर्ष बाद भी यही नियम रहेगा ।

चेतन (प्राणी) जगत् में भी नियम है कि बच्चा होता है, बच्चे से युवक और युवक से बूढ़ा होता है । तत्पश्चात् उसकी मृत्यु होती है । बच्चे का जन्म होना, उसका युवक होना तथा वृद्ध होना फिर मृत्यु को प्राप्त करना यह नियम भारत में पाया जाता है ऐसा नहीं है । अपितु सभी देशों में यह नियम पाया जाता है । पचास वर्ष पहले भी यही क्रम (बच्चा, युवक, वृद्ध) था । आज भी है और पचास वर्ष बाद भी यही क्रम रहेगा । यह नियम भी सब जगह तथा हर समय विद्यमान रहता है ।

गति शीलता :

जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं वह सूर्य के चारों ओर घूम रही है । सूर्य के चारों ओर एक बार घूमने में इसे एक वर्ष लगता है तथा चौबीस घंटे में (अर्थात् एक दिन-रात) यह अपने स्थान पर एक चक्कर (परिक्रमा) लगाती है । यह अपने स्थान पर घूमते हुए सूर्य के चारों ओर परिक्रमा कर रही है। वैज्ञानिकों के अनुसार १,११,६०० कि.मी. प्रति घंटे की गति से घूम रही है।

सूर्य भी अपने स्थान पर घूम रहा है । जिस पृथ्वी पर हम रहते है

उससे १३ लाख गुना बड़ा सूर्य है, सूर्य पृथ्वी से ९ करोड़ ३० लाख मील की दूरी पर है। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूम रही है और चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूम रहा है। इन सब की गति इतनी व्यवस्थित है कि दस हजार वर्ष पहले या दस हजार वर्ष बाद कब सूर्य ग्रहण या चन्द्र ग्रहण हुआ था या होगा यह आज ज्योतिष के द्वारा ज्ञात हो जाता है।

विशालता :

यह विशाल संसार सूर्य-चन्द्र-पृथ्वी तक ही सीमित नहीं है अपितु सूर्य से भी अधिक दूरी पर मंगल, बुध, बृहस्पति, शनि आदि ग्रह अन्तरिक्ष में हैं। इन सब ग्रहों का परिवार एक सौर परिवार कहलाता है। ऐसे एक अरब सौर परिवारों के समूह को एक निहारिका कहते हैं। ऐसी १५०० निहारिका वैज्ञानिक साधनों के द्वारा देखी गई है। रात्री को चमकते हुए तारों की एक लंबी (लाइन) रेखा को आकाश गंगा कहते है। खगोल शास्त्रियों के अनुसार आकाश गंगा में २०० अरब तारे हैं जिनमें सूर्य भी एक तारा है। ऐसी अरबों आकाश गंगा विद्यमान है। एक आकाश गंगा पृथ्वी से इतनी दूर है कि उसका प्रकाश पृथ्वी पर आने में १० अरब वर्ष लग जाते है। प्रकाश की गति ३ लाख कि.मी. प्रति सैकण्ड है। यह ब्रह्माण्ड कितना विशाल है कि ३ लाख कि.मी. प्रति सैकण्ड की गति से चलनेवाले प्रकाश को पृथ्वी पर आने में १० अरब वर्ष लग जाते हैं। अर्थात् जब से यह पृथ्वी बनी है तब से लेकर आज तक कुछ नक्षत्रों का प्रकाश पृथ्वी पर नहीं पहुँच सका है। इतने विशाल ब्रह्माण्ड के रचयिता की व्यवस्था में सभी ग्रह-उपग्रह नक्षत्रादि अपने स्थान पर सक्रिय हैं, एक दूसरे से अपनी दूरी बनाये हुए गतिशील हैं और आपस में नहीं टकरा रहे हैं।

चेतन के कारण गति :

जब तक जड़ पदार्थ को कोई गति न दे तब तक वह स्वयं गतिशील नहीं हो सकता है। मैं कलम से लिख रहा हूँ। कलम अपने

आप तो नहीं लिखती है इससे लिखने वाला कोई चेतन प्राणी मनुष्य होना चाहिये । टेबल, कुर्सी-पुस्तकादि अपने आप एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जाते, इनको कोई ले जानेवाला चेतन प्राणी होना चाहिये । इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि ये जड़ पदार्थ अपने आप स्वयं गतिशील नहीं हो सकते हैं । इनको गति देनेवाली कोई चेतन शक्ति है, जिसे परमात्मा कहते है ।

नदी का बहता हुआ पानी समुद्र में आकर मिलता है तो समुद्र में मिलते ही खारा हो जाता है । गर्मी में सूर्य की किरणें तीक्ष्ण रूप से समुद्र के पानी में पड़ती है तो पानी वाष्प बनकर ऊपर आकाश में पहुँच जाता है और वर्षा ऋतु में वाष्प पानी के रूप में बरस जाता है, जिससे पेड़ पौधे वनस्पति आदि तृप्त होते हैं । कुएँ, तालाब, नदी, नाले भर जाते हैं और नदियाँ बहती हुए समुद्र में आकर मिल जाती हैं । समुद्र के सारे पानी की वाष्प नहीं बनती कि जिससे समुद्र ही सूख जाय और पानी भी इतना नहीं बरसता कि सारी धरती ही पानी में डूब जाये । इसका सन्तुलन रखने वाली कोई शक्ति है जो सब पानी की वाष्प या सारे पानी को बरसने नहीं देती है । इतना ही नहीं नदी का मीठा पानी समुद्र में मिलते ही नमकीन (खारा) हो जाता है । और नमकीन पानी की भाप मीठी बनती है, जिससे मीठे पानी की वर्षा होती है। ख़ारा पानी नहीं बरसता है । खारे को मीठे पानी में और मीठे को खारे पानी मे़ जो परिवर्तित कर रहा है वह चेतन शक्ति परमात्मा है । परमात्मा अपनी विचित्र रचना शक्ति का परिचय संसार के माध्यम से दे रहा है कि समुद्र के किनारे नमकीन पानी जिस भूमि में होता है वहाँ नारियल के पेड़ होते हैं । उसने कैसा फिल्टर (पानी छानने का यन्त्र) लगा रखा है कि नारियल में से मीठा पानी निकलता है, वही पानी सूखकर नारियल की गरी के रूप में बदल जाता है और कुछ समय बाद गरी में रहता हुआ तैल के रूप में परिवर्तित हो जाता है ।

। वृक्षों की विविधता, भिन्न प्रकार के प्राणियों के शरीरों की रचना, मानव शरीर का एक-एक अंग परमेश्वर के रचना कौशल का परिचय

दे रहा है । करोड़ों व्यक्तियों के अंगुलियों के निशान एक दूसरे से नहीं मिलते हैं । एक दूसरे का चेहरा नहीं मिलता, चेहरा मिल जाय तो आवाज नहीं मिलती, स्वभाव योग्यतादि नहीं मिलते हैं । यह विविधता ही बुद्धि जीवियों को यह मानने के लिए बाध्य करती है कि इसका रचियता परमेश्वर है जो इन सबका निर्माण कर रहा है ।

परमात्मा सृष्टि का कर्ता है । समस्त जड़ और चेतन जगत् को नियमों में रखने वाला है । कोई भी इसके नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता है । इसलिए इसे सर्वशक्तिमान् कहते हैं । ऐसा सर्वशक्तिमान् परमात्मा सब जगह रहता है क्योंकि नियम सब जगह है, तो नियम का बनाने वाला (नियामक) ईश्वर भी सब जगह होना चाहिए । यदि नियम बनाने वाला परमात्मा सब जगह न हो और किसी एक स्थान पर हो तो वह अपने नियम और व्यवस्था को सब जगह नहीं चला सकता है । नियामक के बिना नियम नहीं हो सकता है । इसलिये वेदादि शास्त्रों में लिखा है कि परमात्मा सब जगह विद्यमान है । वह सर्व व्यापक है । ''ईशावास्यमिदं सर्वम्'' (यजु. ४०/१)

यदि परमात्मा सब जगह है और उसने सारी जगह घेर ली तब अन्य पदार्थों को और प्राणियों को रहने के लिए कोई स्थान नहीं रहना चाहिये तब पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, मनुष्यादि कहाँ पर रहेंगें । किन्तु जिसका कोई आकार होता है वह जगह घेरता है। समान आकारवाले दो पदार्थों में ऐसा होता हैं। पुस्तक के पास या ऊपर तो दूसरी पुस्तक रखी जा सकती है किन्तु उसी स्थान पर कोई भी वस्तु नहीं रख सकते जहाँ पर पहले से ही पुस्तक रखी है । इसी प्रकार जिस स्थान पर एक मकान बना है उसी जगह दूसरा मकान नहीं बन सकता है अर्थात् जिस पदार्थ का आकार, लम्बाई, चौड़ाई आदि होती है वह पदार्थ जगह घेरता है । परमात्मा तो आकार से रहित निराकार है इसलिये वह जगह नहीं घेरता है ।

स्थूल पदार्थ में सूक्ष्म पदार्थ आ जाता है । मकान का दरवाजा बड़ा होता है और उस दरवाजे में दरवाजे से आकार में छोटे मनुष्य आदि प्राणी प्रवेश कर सकते हैं। दरवाजे के आकार से स्थूल हाथी का प्रवेश

दरवाजे में नहीं हो सकता है । जितने भी सांसारिक पदार्थ हैं उन सबसे सूक्ष्म परमात्मा है । अन्य कोई भी पदार्थ उससे सूक्ष्म नहीं है । वह सभी के अन्दर विद्यमान है । शास्त्रों में भी परमात्मा को सबसे सूक्ष्मतम (छोटा) लिखा है ।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ।। (उपनिषद्)

किसी स्थूल पदार्थ को तोड़ते हुए उसके टुकडे करते चले जाएँ और अन्त में इतना छोटा टुकड़ा हो जाय कि उसको आगे तोड़ा न जा सके, उसका विभाजन न हो सके जो सबसे सूक्ष्म हो उसे अणु या परमाणु कहते हैं जो आँखों से नहीं दीखता है । परमात्मा अणु से भी सूक्ष्म है, उसमें भी विद्यमान है इसलिये अणु के अन्दर रहता हुआ इनको मिलाकर सृष्टि का निर्माण करता है तथा परमाणुओं को एक दूसरे से पृथक् करके सृष्टि का प्रलय करता है । परमाणुओं को मिलाने और पृथक् करने वाला परमात्मा इनके अन्दर रहता हुआ किसी दूसरे की सहायता के बिना सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है । हम पुस्तक हाथ से उठाते हैं किन्तु हाथ को दूसरे हाथ से पकड़कर नहीं उठाते हैं । क्योंकि हम हाथ के अन्दर विद्यमान है । जीवात्मा शरीर के अन्दर विद्यमान है इसलिए अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहता है, तब शरीर खड़ा हो जाता है दौड़ने लगता है, बैठ जाता या चलने लगता है आदि । जीवात्मा पुस्तक या कलम में नहीं है । इसलिये उसे हाथ से उठाता है । इसी प्रकार परमात्मा प्रत्येक परमाणु के अन्दर विद्यमान है । परमाणुओं को बिना हाथों के मिलाता और पृथक् करता है । बिना हाथों के इस संसार की रचना करता है ।

परमात्मा सब जगह होने से हमारे सभी कार्यों को जो हम करते हैं और सोचते हैं उनको जानता है इसलिये उसे सर्वज्ञ कहते हैं । वह बिना हाथों के काम करता, बिना आँखों के देखता है, बिना कानों के सुनता है । साधनों की आवश्यकता कमजोर व्यक्ति को होती है - जिसको आँखों से ठीक नहीं दीखता है वही उपनेत्र (चश्मा) लगाता है । जीवात्मा

अल्पशक्तिमान् है अतः उसे काम करने के लिये हाथों की आवश्यकता पड़ती है । देखने के लिए आँखों की, सुनने के लिए कानों की आवश्यकता होती है । किन्तु परमात्मा सर्वशक्तिमान् है। अतः उसे हाथ, पैर, आँख-कानादि साधनों की आवश्यकता नहीं है । शास्त्रों में भी ऐसा ही कहा है ।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः

(उपनिषद्)

अर्थात् परमात्मा बिना हाथों के ग्रहण करता है, बिना पैरों के गति करता, बिना आँखों के देखता है, बिना कानों के सुनता है ।

तुलसीदास जी ने भी कहा है —

बिन पद चले सुने बिन काना,
कर बिन कर्म करे विधि नाना ॥

मकान बनाने वाले मिस्त्री को, भोजन बनाने वाले पाचक को जैसे हम देखते हैं वैसे ही सृष्टि के रचयिता परमेश्वर को हम देखते हैं या नहीं । यदि देखते हैं तो वह कैसा है । यदि नहीं देखते हैं तो क्यों नहीं देखते हैं इत्यादि प्रश्न उपस्थित होते हैं । इस विषय में अनेक तर्क और प्रमाणों से विद्वानों ने समाधान किया है । मकान बनाने वाले मिस्त्री, तथा भोजन बनाने वाले पाचक को नहीं देखते हैं अपितु इनके शरीर को देखते हैं । शरीर के अन्दर रहने वाले जीवात्मा को आज तक किसी ने आँखों से नहीं देखा है और नहीं देखा सक़ता है । ज़ब तक शरीर में जीवात्मा रहता है तब तक मनुष्य आँखों से देखता, कानों से सुनता और हाथों से काम करता है । जीवात्मा के शरीर से निकलने पर शरीर मिट्टी के समान हो जाता है तब हाथ काम नहीं करते, आँखें नहीं देखतीं तथा कान भी सुनने का कार्य नहीं करते हैं । अर्थात् मकान या भोजन बनाने वाले जीवात्मा जो वास्तव में कर्ता हैं उसको हम नहीं देखते हैं अर्थात् नष्ट होने वाले अनित्य पदार्थ शरीर को देखते हैं। नित्य पदार्थ जो हमेशा रहता है उस जीवात्मा को नहीं देखते हैं । जब जीवात्मा भी नहीं दीखता है तो परमात्मा कैसे दीख सकता है । अर्थात् आँखों से नहीं दीखता है । वह नित्य है।

जीवात्मा का जैसे शरीर है, उसके शरीर को मनुष्य देखता है तो क्या परमात्मा का भी शरीर है जिसे मनुष्य देख सके। शरीर, हाथ, पैर, आँख, नाक, कानादि साधन हैं जिससे जीवात्मा शुभाशुभ कर्म करता है और कर्मों के फल सुख-दुःखादि भोगता है । साधन की आवश्यकता अल्प शक्तिवाले को होती है । जीवात्मा अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् है अतः उसे देखने के लिये आँखों की, सुनने के लिये कानों की, और काम करने के लिये हाथों की आवश्यकता होती है। परमात्मा सर्वशक्तिमान् है इस लिये वह बिना आँखों के देखता, बिना कानों के सुनता है और बिना शरीर के सृष्टि रचना करता है। अतः परमात्मा का शरीर नहीं है । वेद में परमात्मा को शरीर रहित - अकायम् - अव्रणम् - अस्नाविरम् - कहा है । (यजुर्वेद-४०/८) यदि परमात्मा का शरीर हो जायेगा तो वह सर्वव्यापक नहीं रहेगा, एक देशी हो जायेगा, तब सर्वज्ञ नहीं रह सकता, सर्वज्ञ न होने से सबको अपने नियम व व्यवस्था में न रखने के कारण वह सर्वशक्तिमान् नहीं होगा और जब सर्वशक्तिमान् नहीं होगा तब जड़ और चेतन को कभी नियमों में व्यवस्थित नहीं रख सकेगा, यदि ऐसा न हो तो गेहूं के बीज से चना व चने के बीज से गेहूं पैदा होने लगेंगे । कोई भी मनुष्य पैदा होने के बाद मरना नहीं चाहेगा, अशुभ कर्म करता ही जायेगा और उसका फल दुःख नहीं भोगना चाहेगा। बच्चे से युवक होकर, युवक से वृद्ध होना नहीं चाहेगा, तब संसार में हाहाकार मच जायेगा किन्तु अभी तक ऐसा नहीं है अतः ईश्वर का शरीर भी नहीं है और शरीर न होने से वह नहीं दीखता है ।

ईश्वर के न दीखने के कारण :-

ईश्वर के न दीखने के अन्य भी कारण हैं । कोई पदार्थ किस कारण से नहीं दीखता है इसका विवेचन करते हुए सांख्य दर्शन में लिखा है कि - कोई वस्तु बहुत दूर हो तो वह नहीं दीखती है जैसे मुम्बई में रहने वाले व्यक्ति को दिल्ली या दिल्ली में रहनेवाले व्यक्ति को मुम्बई नहीं दिखलाई देती है । मुम्बई के निवासी को दिल्ली और दिल्ली वासी को वहीं पर रहते मुम्बई नहीं दीखाई दे तो इसका तात्पर्य यह

नहीं है कि मुम्बई या दिल्ली नहीं है अर्थात् बहुत दूर होने पर कोई भी वस्तु दीखाई नहीं देती है। इसी तरह कोई वस्तु बहुत अधिक समीप हो तब भी नहीं दीखती है। जैसे आँखों में लगा हुआ अंजन, आँख के अत्यधिक निकट होता है। अधिक निकट होने के कारण वह नहीं दिखाई देता है। कोई वस्तु बहुत अधिक सूक्ष्म-छोटी हो तो वह भी नहीं दिखाई देती है। जैसे परमाणु जो भौतिक संसार का सबसे सूक्ष्म अवयव (टुकड़ा) है जिसका आगे विभाजन नहीं हो सकता है वह आँखों से नहीं दिखाई देता है। न दीखने के कारणों का उल्लेख करते हुए आगे लिखा है कि - दीखने वाले पदार्थ के तथा देखने वाले व्यक्ति के बीच में यदि कोई आवरण, दीवार आदि आ जाय तब भी वह पदार्थ नहीं दीखता है। जिस कमरें में हम बैठे हैं और कमरे के बाहर कौन व्यक्ति क्या कर रहा है यह हमको कमरें की दीवार बीच में आने के कारण नहीं दीखता है। आँखें खराब होने पर भी नहीं दीखता है तथा देखते हुए भी यदि मंन कहीं और लगा हुआ हो अर्थात् मन आँखों के साथ न हो तब भी मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता है। इन सब कारणों से पदार्थ नहीं दीखता है।

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवात् समानाभिहाराच्च ।।

सांख्य कारिका - ७

इन सब कारणों पर विचार करने पर स्पष्ट होता है कि ईश्वर नहीं दीखता है क्योंकि ईश्वर दूर से भी दूर है और समीप से भी समीप अर्थात् अत्यधिक निकट है, ईश्वर सबसे अधिक हमारे निकट है - सूक्ष्म है - इसलिये वह दिखाई नहीं देता है। वेद में लिखा है वह अत्यधिक दूर और अत्यधिक समीप है। **तद् दूरे तद्वन्तिके च** (यजुर्वेद ४०/५) परमात्मा सब जगह विद्यमान है। कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ ईश्वर न हो, इसलिये पूरे ब्रह्माण्ड में विद्यमान होने के कारण वह दूर से भी दूर और समीप से भी समीप है। परमात्मा की विशालता का वर्णन करते हुए वेद में लिखा है कि जितना विशाल यह ब्रह्माण्ड है उसमें तो परमात्मा व्याप्त है ही, किन्तु इससे आगे भी परमेश्वर विद्यमान है।

परमात्मा के एक हिस्से में यह सारा विशाल ब्रह्माण्ड है और इस ब्रह्माण्ड से ३/४ हिस्सों में और परमात्मा विद्यमान है। ***''पादोऽस्य विश्वस्य त्रिपादस्यामृतं दिवि''*** *(यजुर्वेद ३१-३)*

पुरुष विशेष :

वेदादि शास्त्रों में जीवात्मा और परमेश्वर को पुरुष कहा गया है। शरीर और ब्रह्माण्ड को पुर कहा है। इस शरीर में रहने वाला जीवात्मा (पुरि शेते इति) पुरुष कहलाता है। यह शरीर पररमेश्वर का बनाया हुआ। आठ चक्र और नौ दरवाजों वाला देवताओं का पवित्र नगर (पुर) अयोध्या है। **''अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या''** *(अथर्ववेद - १०/२/३१)* यह शरीर देवताओं की ऐसी नगरी है कि उसमें दो आँखें, दो कान, दो नासिका द्वार एक मुंह तथा दो मल-मूत्र त्यागने के द्वार, ये नौ दरवाजे हैं। जिस अयोध्या नगर में रहता हुआ जीवात्मा (पुरुष) कर्म करता और उनका फल भोगता है।

ब्रह्माण्ड (पुर) में रहने वाला परमात्मा भी (पुरि शेते इति) पुरुष है। परमात्मा का वर्णन करते हुए योग दर्शन में लिखा है — अविद्या-राग-द्वेषादि क्लेशों से रहित है। शुभ-अशुभ कर्म तथा इनके फल सुख-दुःखादि से तथा कर्मों के शुभ-अशुभ संस्कारों से विहीन पुरुष विशेष को ईश्वर कहते हैं।

''क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः''॥ *(योगदर्शन-१/२४)* अर्थात् जीवात्मा अज्ञान-राग-द्वेष से प्रभावित होकर अच्छे बुरे कर्म करता और इनका फल सुख-दुःखादि भोगता है तथा इन कर्मों के संस्कारों से भी प्रभावित रहता है। किन्तु परमेश्वर अविद्यादि दोषों से रहित सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान्-सर्वव्यापक आनन्द स्वरूप है।

ईश्वर अवतार :

ऐसे सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक परमात्मा को जो सर्वोपरि सत्ता है उसको कुछ लोगों ने शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में तथा अन्धश्रद्धा के कारण व्यक्ति के रूप में कल्पित कर लिया है और यह मानने लगे कि परमात्मा का जन्म होता है वह शरीर धारण करता है। जैसे हमें

भूख और प्यास लगती है जिसे दूर करने के लिये हम भोजन करते हैं, पानी पीते हैं वैसे ही ईश्वर को भी भूख लगती है इसलिये उसे भोग लगाना, उसे कपड़े पहनाना, शयन कराने और उठाने के लिये घण्टी बजाना आदि कार्य ही ईश्वर की पूजा समझकर करने लगे। जो महापुरुष सामान्य पुरुषों से अधिक गुण सम्पन्न हुए उनको लोगों ने अन्धश्रद्धा के कारण परमात्मा का अवतार या ईश्वर कहना शुरू कर दिया। इस प्रकार राम कृष्ण, बुद्धादि को परमेश्वर का अवतार कहने लगे। इस तरह अवतारवाद की शुरूआत हो गयी। जब कि वाल्मीकि रामायण में राम स्वयं अपने आप को मनुष्य कहते है। ***''आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्''*** ।। *(रामायण)* राम को पुरुष श्रेष्ठ, नरपुंगवादि शब्दों से सम्बोधित किया गया है। परमेश्वर कहकर वर्णन नहीं किया है। जब परमात्मा को व्यक्ति के रूप में वर्णन किया तब उसका निवास, स्थान विशेष पर बताने लगे। किसी ने उसे क्षीर सागर में, वैकुण्ठ या गोलोक में तो किसी ने उसे चौथे और साँतवे आसमान पर रहनेवाला बताया है।

हानियाँ :

जिसका परिणाम यह हुआ साधारण लोग परमात्मा को इन विशेष स्थानों पर रहने वाला मानकर, इन स्थानों से अन्य स्थान पर जहाँ हम रहते हैं वहाँ परमात्मा नहीं है इसलिये मनुष्य पाप करने लगा और मनुष्यों का नैतिक पतन प्रारम्भ हो गया। जब मनुष्य यह मानता था कि परमात्मा सब जगह है और हमारे प्रत्येक शुभ-अशुभ कर्म को देखता व जानता है। यदि हम पाप का विचार भी करेंगे तो उसको परमात्मा जानेगा और उसका भी दण्ड देगा अतः मनुष्य पाप करने से डरते थे। तब मनुष्यों का नैतिक जीवन अच्छा होता था। परमेश्वर को सर्वव्यापक न मानने से मानव समाज की बहुत हानि हुई है।

ईश्वर एक नाम अनेक :

संसार का बनानेवाला, पालन करने वाला और प्रलय करने वाला परमात्मा एक है। दो-चार नहीं है।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

(यजुर्वेद - १३/५)

एक परमेश्वर के स्थान पर अनेक ईश्वर होने की कल्पना, तथा ईश्वर के अनेक नामों को लेकर भी साम्प्रदायिक संघर्ष होने लगा । ब्रह्मा-विष्णु-शिवादि नामों को लेकर परस्पर एक-दूसरे की निन्दा करने लगे । जब कि वेद में लिखा है परमात्मा एक है किन्तु उसमें अनेक गुण होने के कारण उसे अनेक नामों से विद्वान् लोग पुकारते है । — ***''एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति''*** परमात्मा सबसे बड़ा होने के कारण ब्रह्मा, सब जगह व्यापक होने से विष्णु तथा सबका कल्याण करनेवाला होने से शिव कहलाता है ।

प्रमुख नाम :

ईश्वर का मुख्य नाम ''ओ३म्'' है जैसा कि योग दर्शन (१/२७) में लिखा है कि उस परमेश्वर का वाचक नाम ''ओ३म्'' है ***''तस्य वाचक: प्रणव:''*** *(१/२७)* एक व्यक्ति अनेक सम्बन्धों के कारण अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है । बहिन के बच्चे उसे मामा, भाई के बच्चे चाचा या ताऊ, उसके बच्चे उसे पिता कहते हैं किन्तु उसका निज नाम राम-श्याम-देवदत्त-यज्ञदत्तादि होता है । इसी प्रकार व्यापक होने से विष्णु-कल्याणकारी होने से शिव, प्रकाशक होने से अग्नि, ऐश्वर्यशाली होने से इन्द्रादि नामों से सम्बोधित किया जाता है । किन्तु उसका.मुख्य निज नाम ''ओ३म्'' है । इसके अर्थ का स्मरण करते हुए इसका जप करने का विधान किया गया है । ***''तज्जपस्तदर्थ भावनम्'' ।।*** *(योग-१/२८)*

इस प्रकार सृष्टि का कर्ता, सबका नियामक, सर्वव्यापक परमेश्वर एक है जिसका मुख्य निज नाम ''ओ३म्'' है । ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के द्वितीय नियम में लिखा है— ईश्वर-सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है ।

धर्म का स्वरूप

धर्म का महत्त्व :-

मनुष्य के जीवन में धर्म का पालन करना कितना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है इंसका वर्णन करते हुए प्राचीन ग्रन्थकार ने लिखा है कि नष्ट किया हुआ धर्म मनुष्य को समाप्त कर देता है और सुरक्षित रखा हुआ धर्म मनुष्य जीवन को भी सुरक्षित रखता है । इसलिये कभी भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि हमारे द्वारा नष्ट किया हुआ धर्म कहीं हमारा ही विनाश न कर डाले ।

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

इसलिये यदि हम जीवित और सुरक्षित रहना चाहते हैं तो हमें धर्म को सुरक्षित रखना चाहिये । मनुष्यों के जीवित और सुरक्षित रहने का मुख्य साधन धर्म है ।

धर्म का तात्पर्य :-

धर्म की सुरक्षा से ही मनुष्यों की सुरक्षा है, इसके विनाश से ही मनुष्यों का विनाश अवश्यभावी है तो यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि धर्म किसे कहते हैं? इसका क्या तात्पर्य और गूढ़ रहस्य है जिसके कारण मनुष्यों का जीवन सुरक्षित रहता है । महर्षि व्यास ने धर्म का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अपने आत्मा के विपरीत आचरण दूसरे व्यक्तियों के साथ मत करो । यह धर्म का सार या निचोड़ है ।

श्रूयतां धर्म-सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ (महा.)

अर्थात् कोई व्यक्ति हमारे साथ झूठ बोले, धोखेबाजी करे, या हमको कष्ट पहुंचावे अथवा हमारे से बिना पूछे हमारी किसी वस्तु को लेवे तो यह हमको अच्छा नहीं लगता है । इसलिये हमें भी किसी की वस्तु बिना पूछे नहीं लेनी चाहिये, किसी को कष्ट नहीं देना चाहिये । किसी के साथ धोखेबाजी नहीं करनी चाहिये या मिथ्या नहीं बोलना

चाहिये। इस प्रकार के आचरण करने को धर्म कहते हैं यही धर्म का सार है ।

धर्म का लक्षण :-

महर्षि मनु ने धर्म के लक्षणों का विवेचन करते हुए लिखा है कि वेद-स्मृति ग्रन्थ, सदाचार और दूसरों के द्वारा हमारे साथ किया जाने वाला अच्छा व्यवहार जो हमें अच्छा लगता है इस प्रकार का व्यवहार दूसरों के साथ करना ये धर्म के साक्षात् लक्षण हैं ।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ।। *(मनु.)*

अर्थात् अपनी आत्मा के अनुकूल अच्छा व्यवहार दूसरों के साथ करना, सदाचार का पालन करना, ऋषियों के लिखित स्मृति ग्रन्थों (शास्त्रों) में वर्णित सत्कर्मों को करना, और अशुभ कर्मों को न करना, वेदों में निर्दिष्ट कर्मानुसार जीवन व्यतीत करना ही धर्म का स्पष्ट लक्षण है ।

महर्षि व्यास और मनु ने धर्म का अर्थ स्पष्ट किया है कि जैसा व्यवहार आप दूसरों से अपने लिये चाहते हो वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ करो, यही धर्म है । यदि यह धर्म सुरक्षित रहता है तो मनुष्य का जीवन भी सुरक्षित रहता है, और यदि यह धर्म नष्ट हो जाता है तो मनुष्य का जीवन भी असुरक्षित हो जाता है । आज मनुष्य स्वयं अपने लिये दूसरों से अहिंसा की यह इच्छा रखता है कि कोई भी मुझे कष्ट न पुहँचावे, मेरी हिंसा न करे, मेरे पैर में कोई कांटा चुभने न पावे, किन्तु वही व्यक्ति दूसरों के साथ हिंसा का व्यवहार करता है। अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये दूसरों को कष्ट देने में उसे कोई संकोच नहीं होता है । इसने अपने अहिंसा रूपी धर्म को नष्ट कर दिया, इसकी हत्या कर दी । इसी प्रकार दूसरा व्यक्ति उसके साथ हिंसा का व्यवहार करता हुआ अपने लिये उससे अहिंसा की अपेक्षा रखता है । दोनों ही व्यक्ति एक दूसरे से अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करने) की इच्छा रखते हैं किन्तु दोनों एक दूसरे के साथ

हिंसा झूठ का व्यवहार करते हैं, एक दूसरे के पदार्थों की चोरी करते हैं, धोखा देते हैं। इस प्रकार नष्ट किया हुआ धर्म दोनों को ही मार रहा है, नष्ट कर रहा है। (धर्म एव हतो हन्ति)

आज सारे संसार में यही हो रहा है कि मनुष्य एक दूसरे के साथ दुर्व्यवहार कर रहा है और स्वयं भी दूसरों के दुर्व्यवहार से दुःखी हो रहा है। इसी से तो धर्म के विनाश से मनुष्य का विनाश हो रहा है। इसलिये सावधान करते हुए प्राचीन ऋषियों ने कहा था कि धर्म को नष्ट न करे, धर्म को सुरक्षित रखे, जिससे सुरक्षित धर्म ही हमारी रक्षा करेगा। यदि मनुष्य दूसरों सें अपने लिये सत्य व्यवहार चाहता है तो वह स्वयं दूसरों के साथ सत्य का आचरण करे। यदि वह दूसरों के साथ सत्य बोलेगा तो दूसरे भी उसके साथ सत्य बोलेंगे। जिससे सत्य रूपी धर्म के सुरक्षित रहने से वह भी सुरक्षित रहेगा, उसे धोखा नहीं होगा। यही धर्म की सुरक्षा में मनुष्य की सुरक्षा है। (धर्मो रक्षति रक्षितः ।)

सदाचार अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों, सज्जनों के आचरण को भी मनु ने धर्म का लक्षण बतलाया है। क्योंकि सज्जन पुरुष दूसरों के सुख दुःख को ध्यान में रखकर व्यवहार करता है। इसलिये सदाचार का पालन करना धर्म कहलाता है। चोरी करने वाले चोर के आचरण को या हत्या करने वाले किसी हत्यारे के आचरण को धर्म नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि चोरी करनेवाला चोर भी यह नहीं चाहता कि चोरी करके लाये उसके सामान में से कोई व्यक्ति उसकी कुछ वस्तुएं चुरा ले। अर्थात् चोर भी दूसरों से यही इच्छा रखता है कि कोई भी उसके यहां चोरी न करे। इसलिये चोरी को धर्म का लक्षण नहीं कह सकते है ऐसे ही कोई भी हत्यारा नहीं चाहता कि मेरी कोई हत्या करे। इसलिये झूठ, चोरी, हत्या आदि धर्म के विपरीत हैं। सत्य, चोरी न करना, अहिंसा का पालन करना, ये सदाचार धर्म के लक्षण हैं।

धर्म के लक्षणों में मनु ने स्मृति ग्रन्थ अर्थात् मानव धर्म शास्त्र का उल्लेख किया है। मानव धर्मशास्त्र या स्मृति ग्रन्थ, ऋषियों के रचित

ग्रन्थ हैं । उनमें यह निर्देश दिया गया है कि किन कर्मों को करना चाहिये और किन कर्मों को नहीं करना चाहिये । मानव धर्म शास्त्रों में निर्दिष्ट कर्मों का आचरण करना भी धर्म का लक्षण मनु ने कहा है । सदाचार औरं दुराचार का बोध स्मृति ग्रन्थों से होता है । मानव धर्म शास्त्र या स्मृति ग्रन्थों के निर्देशों का ही पालन धर्म क्यों कहलाता है; किसी भी ग्रन्थ में लिखे हुए आदेश का पालन करना धर्म क्यों नहीं कहलाता है? इस विषय में शास्त्रीय मान्यता यह है कि शराबी और दुराचारी व्यक्ति की कही हुई या लिखी हुई बात मानने योग्य नहीं है अर्थात् वह धर्म के लक्षण के अन्तर्गत नहीं आती है । ऋषि की कही हुई या लिखी हुई बात ही मानने व आचरण करने योग्य है । क्योंकि ऋषि द्रष्टा (आत्मसाक्षात्कार) करने वाला होता हैं । उसे सत्य का बोध ही नहीं अपितु उसने सत्य का आचरण भी किया है ।

भारतीय परम्परा में आत्म साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति वह होता है जिसने यम-नियमादि का पालन करते हुए आसन, प्राणायाम करते हुए अष्टांग योग द्वारा आत्मसाक्षात्कार किया हो । अर्थात् अहिंसा-सत्य अस्तेय (चोरी न करने वाला) का पालन करने वाला व्यक्ति ही द्रष्टा-ऋषि होता है । झूठ बोलने वाला, या चोरी करने वाला, ईश्वर का द्रष्टा नहीं हो सकता और ईश्वर का द्रष्टा झूठ नहीं बोलता, चोरी नहीं करता, झूठ और द्रष्टा, चोरी और आत्मसाक्षात्कार परस्पर विरोधी हैं । इसलिये जो ऋषि है वह झूठ नहीं बोलता है । अतः उसकी लिखी हुई बातों को मानना धर्म का लक्षण है । ऋषि निर्मित स्मृति ग्रन्थों के निर्देशों का पालन करना धर्म का आचरण कहलाता है । इसी कारण स्मृति ग्रन्थों का धर्म के लक्षण में मनु ने उल्लेख किया है ।

धर्म के लक्षण में सर्वोपरि स्थान वेद का है । क्योंकि भारतीय ऋषियों की मान्यतानुसार 'वेद' ईश्वर का दिया हुआ पवित्र ज्ञान है । परमात्मा ने सृष्टि बनायी और सृष्टि में मनुष्य ही नहीं अपितु सभी प्राणियों के लिये आवश्यक पदार्थों का निर्माण भी किया । इतना ही

नहीं अपितु सृष्टि में किस प्रकार रहना चाहिये इसका वर्णन वेदों में है। अर्थात् सृष्टि और वेदों का रचयिता परमेश्वर ही है। *(जन्माद्यस्य यतः । शास्त्रयोनित्वात् । तत्तु समन्वितम् ।)* (वेदान्त दर्शन) संसार में मनुष्य किस प्रकार सुरक्षित रहे इसका वर्णन संसार के बनानेवाले परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कौन कर सकता है? परमात्मा के बनाये हुए ग्रन्थ वेद हैं। इसलिये वेद में निर्दिष्ट सत्कर्मों को करना धर्म कहलाता है।

जीवात्मा साधना करता हुआ अपने अन्तःकरण को पवित्र बना लेता है और आत्म साक्षात्कार कर लेता है। ऋषि हो जाता है। उसकी बातें प्रामाणिक हैं, मानने योग्य हैं, धर्म के लक्षण हैं। किन्तु योगी होने पर भी जीवात्मा अल्पज्ञ ही रहता है, वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता, समस्त सांसारिक नियमों को तो सर्वज्ञ परमात्मा ही जानता है। अतः उसके पवित्र ज्ञान 'वेद' में पूर्ण पवित्रता एवं समस्त प्राणियों की सुरक्षा के नियम विद्यमान हैं। उनमें लिखित कर्तव्यों का पालन करना धर्म है। इसलिये मनु ने धर्म के लक्षण में सर्व प्रथम स्थान वेद, उसके बाद ऋषि कृत स्मृति ग्रन्थ अर्थात् वेदानुकूल होने पर ही ऋषियों के स्मृति ग्रन्थ धर्म के विषय में प्रामाणिक हैं। वेद के प्रतिकूल होने पर अप्रामाणिक अर्थात् मानने योग्य नहीं है। वेद और स्मृतियों को जो न समझ सके वह 'सदाचार' के द्वारा धर्म को जान सकता है। और 'सदाचार' के विषय में भी कोई भ्रान्ति होती हो तो उसके लिये अत्यन्त स्पष्ट लिख दिया कि जैसा अच्छा व्यवहार आप दूसरों से अपने लिए चाहते हो वैसा ही अच्छा व्यवहार दूसरों के साथ करना यह धर्म का लक्षण है। धर्म के इस स्पष्ट लक्षण को धर्म का विरोध करने वाला संसार का कोई भी व्यक्ति मानने से इन्कार नहीं कर सकता है।

धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए महर्षि कणाद ने भी लिखा है कि जिस कर्म से लोक और परलोक दोनों की उन्नति हो अर्थात् जिससे यह जीवन भी और आने वाला जीवन भी अच्छा बने उसे धर्म

कहते हैं । *(यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः ।* वैशे.) सत् बोलना, चोरी न करना, दूसरों का उपकार करनादि सभी कर्मों से मनुष्य को सुख पहुँचता है । दूसरों को सुख देने वाला ही दूसरों से सुख प्राप्त कर सकता है । इसलिये अहिंसा-सत्य परोपकारादि कर्मों से इस जीवन में सुख मिलता है और शुभ कर्मों के संस्कार से अगले जन्म में भी सुख मिलता है और शुभ कर्मों के संस्कार अगले जन्म में भी सुख के ही कारण होते हैं, इसलिये इन कर्मों को धर्म कहा गया है क्योंकि इनके द्वारा इस जीवन (लोक) में और अगले जीवन (परलोक) में भी उन्नति करता हुआ सुखों को प्राप्त करता है ।

पदार्थ के गुण को भी 'धर्म' कहा गया है । जिस गुण के कारण वह पदार्थ जाना जाता है । यदि पदार्थ में से वह गुण नष्ट हो जाए तो उस पदार्थ का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है । जैसे अग्नि का गुण जलाना-ताप देना है । जिस समय अग्नि में ताप (जलाने का) गुण नष्ट हो जाता है तब उसे कोई भी अग्नि नहीं कहता, अपितु उसे भस्म (राख) या कोयलादि कहते हैं । इस प्रकार दाहकता-ताप या जलाना अग्नि का धर्म है । अर्थात् जिससे पदार्थ का अस्तित्व सुरक्षित रहता है उसे धर्म कहते हैं ऐसा शास्त्रों में कहा गया है *(योग्यतावच्छिन्न धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः)*

अग्नि का धर्म दाहकता है वैसे ही मानव शरीर का भी कोई धर्म होना चाहिये, जिससे मनुष्य शरीर को प्राप्त करके भी मनुष्य, मनुष्य कहला सके, इसी को स्पष्ट करते हुए महाभारतकार ने लिखा है कि जो सबका धारण करता हो, जिससे सबकी उन्नति होवे, जिससे प्रजा की रक्षा और उन्नति होती है उसे धर्म कहते हैं । जो प्रजा को धारण करता है, सुरक्षित रखता है, उसे धर्म कहते हैं ।

धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

जिन कर्मों के द्वारा मनुष्य एक दूसरे की रक्षा करता हैं । वे सभी सद्गुण अहिंसा-सत्य-दया-परोपकारादि कर्म धर्म कहलाते हैं क्योंकि

इनसे मनुष्य सुरक्षित भी रहते हैं और दूसरों से भी अपने लिये ऐसे कर्मों की अपेक्षा मनुष्य रखते हैं। इसलिये जो प्रजा (जनता) को धारण करे-सुरक्षित रखे वह धर्म कहलाता है।

योग दर्शन में ईश्वर प्राप्ति के साधनों का वर्णन किया है। जो मनुष्य आत्म साक्षात्कार करना चाहता है उसके लिये सर्व प्रथम अहिंसा-सत्य-अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना) इन सबका पालन करना आवश्यक है। ***अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः*** (योगदर्शन) मनुष्य मन-वचन-कर्म से दूसरों को कष्ट नहीं पहुँचावे, सत्य बोले, सत्य का आचरण करे, दूसरों के पदार्थों को बिना आज्ञा के न लेवे, सदाचार का पालन करे, अनावश्यक पदार्थों का संग्रह न करे ये सभी कर्तव्य उसके लिये आवश्यक हैं। इन सब कर्तव्यों का दूसरों के साथ सम्बद्ध है क्योंकि वह दूसरों से अपने लिये अहिंसा-सत्य-अस्तेयादि चाहता है। जब दूसरों से अपने लिये चाहता है तो ऐसे ही कर्तव्यों का पालन करे, ये ही धर्म के प्रमुख लक्षण है, समाज से सम्बन्धित होने के कारण सामाजिक धर्म हैं। इनका पालन करने पर ही मनुष्य ईश्वर को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है तथा इनसे समाज सुरक्षित रहता है, इसलिये नीतिकार ने ठीक ही कहा है कि धर्म के सुरक्षित रहने पर ही मनुष्य समाज सुरक्षित रहता है। ***(धर्मो रक्षति रक्षितः।)***

महर्षि मनु ने धर्म के चार लक्षणों के अतिरिक्त दस लक्षणों का भी वर्णन किया है। धैर्य रखना, क्षमा करना, चोरी न करना, शरीर-मन और वाणी से पवित्र रहना, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि को विकसित करना, विद्या की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना, सत्य मानना, बोलना और आचरण करना, तथा क्रोध न करना ये धर्म के दस लक्षण हैं।

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनु.)

१. **धृति** - धैर्य रखना, प्रत्येक मनुष्य के सामने अनुकूल तथा

प्रतिकूल परिस्थिति आती रहती है । अत्यधिक अनुकूल स्थिति प्राप्त होने पर बहुत प्रसन्न न होना और प्रतिकूल परिस्थिति आने पर घ दुःख या कष्ट आने पर नहीं घबराना, अपना सन्तुलन न खोना, दुःखी न होना । अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति में धैर्य रखना विचलित न होना, धर्म का लक्षण हैं ।

२. क्षमा - मनुष्य अल्पज्ञ है अतः जाने, अनजाने में उससे भूल हो सकती है इसलिये किसी से त्रुटि होने पर और त्रुटि स्वीकार कर लेने पर उसे क्षमा कर देना धर्म का लक्षण है । क्योंकि क्षमा करने वाला स्वयं भी अल्पज्ञ होने के कारण अज्ञानता वश त्रुटि या अपराध कर सकता है, वह भी दूसरों से यही चाहता है कि मुझे क्षमा कर दिया जाय । इसलिये क्षमा धर्म का लक्षण है ।

३. दम - अपने मन को वश में रखना, मन को वश में न रखने के कारण ही मनुष्य दूसरों की हानि करके अपने स्वार्थ की पूर्ति करता है । दूसरों की हानि न करना धर्म है क्योंकि वह स्वयं नहीं चाहता है कि कोई उसको हानि पहुँचावे । इसलिये दूसरों को हानि न करने के लिये मन को शुद्ध-पवित्र और वश में रखना यह धर्म का लक्षण है ।

४. अस्तेय (चोरी न करना) - बिना पूछे या बिना आज्ञा के किसी के पदार्थ को ग्रहण न करना, मनुष्य स्वयं भी दूसरों से यही चाहता है ।

५. शौचम् (शुद्धता-पवित्रता) - गन्दगी या अपवित्रता किसी को अच्छी नहीं लगती है, तथा हानिकारक भी है । इसलिये शुद्धता-सफाई-पवित्रता से रहना, शरीर-मन और वाणी को पवित्र रखना ।

६. इन्द्रियनिग्रह - इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये । इन्द्रि अर्थात् जीवात्मा के साधन को इन्द्रिय कहते हैं । आँख-नाक-कान आदि इन्द्रियों के द्वारा जीवात्मा अपने लिये सुखदायक शुभ कर्म करे, यह तभी होता है जब इन्द्रियाँ उसके वश में रहें । मनुष्य शुभ कर्म इन्द्रियों के वश में रखकर ही कर सकता है इसलिये इसे धर्म का लक्षण कहा गया है ।

७. धीः (बुद्धि) - मनुष्य की महान् धरोहर उसकी बुद्धि है । मनुष्य बुद्धि से ही सत्यासत्य का निर्णय करता है । बुद्धि के विकृत होने पर मनुष्य पागल हो जाता है । बुद्धि जिसके पास है बल भी उसके पास है । ***(बुद्धिर्यस्य बलं तस्य)*** मनुष्य ने बुद्धि के बल से ही सिंह जैसे बलवान् पशु को लोहे के पिंजरे में बन्द कर दिया । इसलिये बुद्धि को ठीक रखना, बुद्धिवर्धक पदार्थों का उपयोग करना धर्म का लक्षण है ।

८. विद्या - विद्या प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करना भी धर्म है । क्योंकि विद्या के द्वारा ही मनुष्य दुःखों से छूटकर उत्तम सुख मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । ***विद्ययाऽमृतमश्नुते*** *(यजु. ४०-१४)* विद्या को धर्म इसीलिये कहा गया है कि इसके द्वारा मनुष्य दुःखों को दूर करके, सुखों को प्राप्त कर सकता है ।

९. सत्यम् - सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य का आचरण करना धर्म है । संसार के सारे व्यवहार सत्य से ही चलते हैं । इसलिये कहा गया है कि सत्य पर सारा संसार टिका हुआ है । ***(सत्येनोत्तभिता भूमिः । ऋग्वेद)*** झूठ भी तब तक चलता है जब तक मनुष्य झूठ को सत्य समझते रहते हैं । जिस दिन मनुष्यों को आभास हो जाता है कि यह व्यक्ति सत्य नहीं बोलता अपितु झूठ बोलता है तब उस पर से सभी का विश्वास उठ जाता है । असत्य आचरण भी सत्य की चादर ओढ़कर ही सफलता को प्राप्त करता है. । जब सत्य की चादर हट जाती है तब असत्य को कोई भी स्वीकार नहीं करता है । इसलिये कहा है कि सत्य से बड़ा धर्म और असत्य से बढ़कर कोई पाप नहीं होता है । ***(नास्ति सत्यात् परो धर्मः नानृतात् पातकं परम् । मनु.)*** इसलिये धर्म शास्त्रियों का विश्वास रहा है कि अन्त में सत्य की ही विजय होती है असत्य की विजय नहीं होती है । ***(सत्यमेव जयते नानृतम्)***

१०. अक्रोध (क्रोध न करना) - क्रोध करने से मनुष्य की विवेक करने की शक्ति नष्ट हो जाती है । क्रोधी व्यक्ति सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय नहीं कर सकता है । क्रोध मनुष्य जीवन के

सुखों में बहुत बाधक है । इसलिये क्रोध रहित रहना ही धर्म का लक्ष है ।

मनु ने धर्म के उपरोक्त दस लक्षणों का विवेचन किया है । इ दस लक्षणों का पालन करने वाला व्यक्ति धार्मिक य धर्मात्म कहलाता है । प्राचीन ऋषियों ने जो धर्म के लक्षण बतलाये हैं या ध का स्वरूप स्पष्ट किया है उससे ज्ञात होता है कि यह अटूट सत्य कि धर्म के सुरक्षित रहने पर ही मनुष्य सुरक्षित रहता है और धर्म नष्ट होने पर मनुष्य का भी विनाश हो जाता है । धर्म का सम्ब हमेशा आचरण, व्यवहार से रहता है । इसीलिये कहा गया है कि " *लिंगं धर्मकारणम्''* अर्थात् धर्म का कोई बाह्य लक्षण नहीं होता ऐसा लक्षण नहीं किया जा सकता है कि जो दाड़ी या बाल न रखे सभी अधार्मिक होते हैं । इसी प्रकार धोती, पेन्ट, पजामा, कुर्ता आ वस्त्र भी धर्म के लक्षण नहीं है । यह घोषित नहीं किया जा सकता कि धोती पहनने वाले सभी धार्मिक और न पहननेवाले सभी अधार्मि या पापी हैं इत्यादि ।

धर्म के सत्य स्वरूप को न जानने से बहुत हानियां हुई हैं । ए मनुष्य को भूख लग रही थी उसे खाने के लिये रोटी नहीं मिली अ उसने मिट्टी खाली । मिट्टी खाने से उसके पेट में दर्द होने लगा, त उस व्यक्ति ने चिल्लाना प्रारम्भ कर दिया कि मनुष्य को भोजन न करना चाहिये भोजन करने से पेट में दर्द होता है, मनुष्य कष्ट पा है । इसलिये भोजन छोड़ दो । यही हाल धर्म के स्थान पर प्रचलि पन्थ, मत, मजहब, सम्प्रदाय और अन्धविश्वास के कारण हुआ है धर्म की भूख मनुष्य में सदा से रही क्योंकि इसके बिना वह जीवि नहीं रह सकता है । धर्म की जगह उसने अन्धविश्वास, पाखण्ड अ मजहबों को स्वीकार किया जिसके कारण उसे दुःख हुआ और मनु ने पाखण्ड, अन्धविश्वास या पन्थ, मजहब को धर्म मान कर इस विरोध करना शुरू कर दिया है और हर क्षेत्र में इसके विरोध आवाजें उठने लगी, नारे लगने लगे और संगठन बन गये ।

धर्म और सम्प्रदाय :-

धर्म और सम्प्रदाय पन्थ या मत, मजहब दोनों में भिन्नता है, दोनों एक नहीं हैं । धर्म के लक्षणों से स्पष्ट है कि धर्म का सम्बन्ध आचरण और व्यवहार से है । जबकि मजहब या सम्प्रदाय या पन्थ, अपनी मान्यताओं को विशेष महत्व देता है, अपने से भिन्न सम्प्रदायवालों को अपने से हीन या निम्नस्तर का मानता है । जैसे शैव-वैष्णव-बौद्ध-जैन आदि । वैष्णव सम्प्रदाय वाले शैवों को अस्पृश्य कहते हैं ।

किमत्र बहुनोक्तेन... ब्राह्मणा येप्यवैष्णवा: ।
न स्प्रष्टव्या न वक्तव्या न द्रष्टव्या कदाचन ।।

शैव, वैष्णव सम्प्रदाय की निन्दा करते हैं । इसी प्रकार यहूदियों पर ईसाइयों के अत्याचार तथा ईसाइयों में कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्टों के झगड़े । मुसलमानों में शिया और सुन्नियों के झगड़े होते रहते हैं। इन सब लड़ाइयों में मजहबी या साम्प्रदायिक भावना काम कर रही है जो अपने को श्रेष्ठ और भिन्न मजहब वाले को हीन समझते है । घृणा-नफरत-ईर्ष्या-द्वेष को फैलाने के कारण ये मजहब और सम्प्रदाय हैं । जब कि धर्म तो घृणा के स्थान पर प्रेम से मिलकर रहने का संदेश देता है । धर्म का सम्बन्ध, किसी मान्यता विशेष से न होकर आचरण के साथ है । धर्म का लक्षण ही अहिंसा अर्थात् हिंसा, घृणा, नफरत का सर्वथा परित्याग रखना है । इसलिये धर्मात्मा घोषित करता है कि मैं संसार के सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूँ । ***(मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । वेद)*** प्रेम से मिलकर रहता हूँ । धर्म मानव मात्र को जोड़ता है, मजहब या सम्प्रदाय के समान मनुष्यों को अलग अलग समुदायों में नहीं बाँटता है । जिसमें भी सद्गुण होंगे, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान या ईसाई, कोई भी हो अथवा चाहे किसी भी देश का रहने वाला हो वह धर्म का आचरण करने वाला धार्मिक या धर्मात्मा कहलायेगा । धर्म का क्षेत्र बहुत व्यापक है, सभी सम्प्रदायों में कुछ लोग धर्मात्मा पाये जाते हैं । जबकि सम्प्रदाय या मजहब में आचरण मुख्य नहीं अपितु अपने

मजहब या सम्प्रदाय पर ईमान या विश्वास करना मुख्य है, चाहे आचरण कैसा भी हो, इस तरह मजहब को ही धर्म समझकर लोगों ने धर्म का विरोध करना शुरू कर दिया कि धर्म मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बनाता है इसलिये धर्म को नहीं मानना चाहिये ।

क्योंकि मजहब या सम्प्रदाय में ईश्वर य खुदा पर ईमान या विश्वास करने के साथ साथ अपने अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लालच से 'क्षमावाद' को अपना लिया गया । अर्थात् भगवान् या खुदा या ईसा पाप क्षमा कर देता है जिसका परिणाम यह हुआ कि साम्प्रदायिक लोग अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने में तो सफल हो गये किन्तु मनुष्यों को पाप करने में प्रवृत्त करते रहे । क्योंकि मनुष्यों का पाप करने का भय समाप्त हो गया, इसलिये कि हमारे पाप तो मन्दिर में भगवान् के दर्शन करने से या खुदा या इस्लाम या ईसा मसीह पर ईमान लाने से हमारे पाप दूर हो जायेंगे । जबकि धर्म यह सन्देश देता रहा है कि शुभ और अशुभ कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है । ***(अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्)*** इस से कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता है । पाप का फल अवश्य भोगना पड़ेगा इससे हम कभी नहीं बच सकते हैं । इसका परिणाम यह था कि मनुष्य पाप करने से डरता था । धर्म के स्थान पर मजहब और सम्प्रदायों के प्रचलन के कारण क्षमावाद को अपनाने से मनुष्यों का नैतिक पतन हो गया है । धर्म का जब इस देश में प्रचार था तब इस देश के राजा ने घोषणा की थी कि मेरे देश में कोई चोर-शराबी और दुराचारी नहीं है । ***न मे स्तेनो जनपदे... न मद्यपः नस्वैरी...*** (छान्दोग्य.) यह था धर्म का प्रभाव । धर्म के न्यून होने से सम्प्रदायों की अधिकता से चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है ।

धर्म और विज्ञान :-

धर्म और विज्ञान परस्पर एक दूसरे के सहयोगी हैं । विज्ञान के द्वारा मनुष्य संसार की यथार्थता का ज्ञान करता है । यथार्थ ज्ञान का उपयोग किस प्रकार करना चाहिये यह धर्म के द्वारा स्पष्ट होता है । इसी विषय में "धर्म और विज्ञान" इस विषय पर बोलते हुए प्रसिद्ध

वैज्ञानिक डा. फ्लेमिंग ने कहा था कि यह संसार कैसे बना? इसका ज्ञान विज्ञान के द्वारा होता है तथा यह संसार क्यों बना इसका सन्देश धर्म के द्वारा ही प्राप्त होता है। इसलिये धर्म और विज्ञान एक दूसरे के शत्रु नहीं अपितु सहयोगी हैं। जैसे घड़ी को पूर्णरूप से जानने केलिये दो प्रश्नों का उत्तर जानना जरूरी है। घड़ी कैसे बनी इसका उत्तर विज्ञान और घड़ी क्यों बनी? इस का उत्तर धर्म देता है। मनुष्य अपने ज्ञान का उपयोग दूसरों के उपकार-कल्याण करने के लिये करे अपने या दूसरों के विनाश के लिये न करे यही धर्म सिखाता है। क्योंकि वह स्वयं अपना विनाश नहीं चाहता है। इसलिये धर्म विज्ञान का सहयोगी है।

जब धर्म के स्थान पर मजहब और साम्प्रदायिक मान्यता या विचार धारा को ही धर्म मान लिया गया तब बुद्धिपूर्वक सोचना बन्द कर दिया जबकि धर्म तर्क पूर्वक सिद्ध होता है। ***(यस्तर्केण अनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।।)*** साम्प्रदायिक ग्रन्थों में जो लिखा उसे बिना सोचे समझे मान लिया गया। उसमे तर्क नहीं करना चाहिये यह प्रचलित कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि जब वैज्ञानिकों ने प्रमाणित किया कि पृथ्वी गोल है सूर्य के चारों ओर घूमती है। जिन मजहबी ग्रन्थों (बाईबिल पुराणादि) में पृथ्वी को चपटी-चटाई की भांति लिखा है उनका वैज्ञानिक मान्यताओं से विरोध हुआ। साम्प्रदायिक अन्धविश्वासी व्यक्तियों ने वैज्ञानिकों को सम्प्रदाय (अपने धर्म) में बाधक समझा और उन्होंने वैज्ञानिकों को यातनाएं देना प्रारम्भ कर दिया। प्रसिद्ध वैज्ञानिक ब्रूनो और गैलेलियों को बहुत कष्ट दिया गया। जिसके कारण वैज्ञानिकों ने संघर्ष किया और अपने मार्ग में धर्म (सम्प्रदाय) को बाधक समझा। धर्म के विरुद्ध नारे लगे, लेख लिखे गये, भाषण दिये गये, इस विषय में बड़े बड़े सम्मेलन किये जाने लगे। ऐसे ही अवसर पर फ्रांस के एक प्रसिद्ध विद्वान् बर्थोले ने कहा था कि "अब धर्म का युग चला गया है धर्म का स्थान विज्ञान ने ले लिया है।" यह सब इस लिये हुआ कि लोगों ने अन्धविश्वास को धर्म मान लिया। अन्धविश्वास के कारण देश विदेश में धर्म के नाम पर

बड़े अत्याचार लोगों पर हुए । धर्म में अन्धविश्वास का कोई स्थान न
है । जो तर्क से प्रमाणित होता है ऐसे ही कल्याण कारक विचारों
धर्म कहा गया है । धर्म का अर्थ न समझने के कारण मनुष्यों को बहु
कष्ट हुआ और हो रहा है ।

धर्म और राजनीति :-

धर्म और राजनीति को भी परस्पर एक दूसरे का विरोधी मा जाता है । कहीं कहीं आवाज उठती रहती है । राजनीति में धर्म हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये । इसलिये कई राजनेता और राजनैति पार्टियां "धर्म निरपेक्षता" खतरे में पड़ गयी तो देश खतरे में प जायेगा । हम और हमारी पार्टी धर्म निरपेक्ष है । अंग्रेजी "Religion" शब्द का अर्थ धर्म नहीं है और इस कारण बहुत भ्र हुआ है । राज्य सम्प्रदाय या मजहब निरपेक्ष होना चाहिये क्योंकि स सम्प्रदायों को अपने अपने विचारो को मानने तथा उन का प्रचार प्रसार करने की स्वतंत्रत होनी चाहिये । तथा किसी एक सम्प्रदाय विशेष कोई भी विशेष सुविधाएं नहीं मिलनी चाहिये, जो सुविधाएं अ सम्प्रदायों को नहीं प्राप्त हो रही । इसी दृष्टि से संविधान "सम्प्रदाय" (Religion) "निरपेक्ष" शब्द का प्रयोग किया गया तो समुचित ही है ।

यूरोप में ईसाई पादरियों का जब राज्यों पर प्रभुत्व था तब पाद निरकुंश होते थे और राजाओं को उनकी आज्ञाओं का पालन कर पड़ता था, जो राजा इसको नहीं मानता था, उसके खिलाफ ईस पादरियों द्वारा विद्रोह कर दिया जाता था । जब यूरोप में जागृति तब यह उद्घोष होने लगा कि राज्य (राजा) पर धर्म (ईसाई चर्च) प्रभाव नहीं होना चाहिये । क्योंकि राज्य पर ईसाई पादरियों अंकुश नहीं रहना चाहिये । पादरियों के द्वारा राजाओं पर और रा कर्मचारियों पर, किये जाने वाले अत्याचारों के विरोध में ही यह न लगा कि राजनीति से धर्म पृथक् होना चाहिये । वहीं से यह नारा आया और यहां भी धर्म निरपेक्ष शब्द का प्रयोग होने लगा । जब वस्तुतः पन्थ या सम्प्रदाय निरपेक्ष राजनीति होनी चाहिये ।

ईसाई पादरियों के प्रभुत्व के कारण ही ईसाई राज्यों में बहुसंख्यक ईसाइयों और ईसाई शासकों, पादरियों द्वारा अल्पसंख्यक यहूदियों पर अत्याचार होते रहे । इसलिये आधुनिक जागृति में यह उद्घोष भी हुआ कि अल्प संख्यकों की सुरक्षा होनी चाहिये । उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व बहुसंख्यक समुदाय पर है । इस प्रकार अल्पसंख्यकों की सुरक्षा और धर्म निरपेक्ष शब्द भी विदेशियों की देन है तथा ईसाई पादरियों के अत्याचार राजाओं पर तथा यहूदियों पर धर्म के कारण नहीं अपितु स्वार्थ के कारण हुए हैं । इन अत्याचारों में धर्म के नाम पर अन्धविश्वास, मजहब, रूढिवादिता और पाखण्ड है, धर्म को न जानने के कारण यह सब हुआ है ।

भारतीय परम्परा में राजनीति के लिये 'राजधर्म' शब्द का प्रयोग होता रहा है । अर्थात् राजा का प्रजा के प्रति धर्म अर्थात् कर्तव्य तथा राज्य कर्मचारियों का राजा और प्रजा के प्रति कर्तव्यों को राजधर्म कहा गया है । जो आवश्यक और अनिवार्य है । इन कर्तव्यों से विमुख कोई भी राजा या राज्य कर्मचारी नहीं हो सकता । अतः राज्य कभी भी धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकता । तथा धर्म तो सत्कर्तव्यों का ही बोध कराता है और ऐसे कर्म जिसे राजा और प्रजा दोनों ही सुखी रहें उसे ही धर्म कहते हैं । दोनों ही सुख की अपेक्षा एक दूसरे से रखते हैं यही तो धर्म का लक्षण है । अतः धर्म से विहीन राजा या राज्य नहीं हो सकता है ।

भारतीय इतिहास में अशोक के राज्य को छोड़कर कोई राज्य ऐसा नहीं मिलता कि जिसमें किसी एक सम्प्रदाय के मानने वालों को विशेष सुविधाएं मिली हो तथा अन्यों को नहीं मिली हों । इसलिये यहां धार्मिक राज्य नहीं रहा अपितु राजा धार्मिक रहे हैं । धर्मविहीन राजा निरकुंश हो जाता है । राजा से विहीन धर्म भी लंगडा (अधूरा) हो जाता है । राजा धार्मिक हो और धर्म राजा के द्वारा पलनीय हो तब प्रजा की रक्षा होती है । यही राजधर्म है । इस तरह धर्म और राजनीति एक दूसरे के सहयोगी है ।

वैदिक वाङ्मय

जब मनुष्य बाजार में रेडियो, टेलीविजन, मिक्सर, फ्रीज आ किसी भी वस्तु को खरीदने के लिये जाता है तब इन वस्तुओं उपयोग किस प्रकार करना चाहिये तथा इनकी सुरक्षा किन किन उपा से हो सकती है । इस विषय का साहित्य भी खरीदने वाले को, इ वस्तुओं के साथ मिलता है । जिसको पढ़कर वह इन वस्तुओं से ठी लाभ उठाता है ।

ठीक इसी प्रकार संसार के बनाने वाले परमात्मा ने संस बनाकर सांसारिक पदार्थों का उपयोग किस प्रकार करना चाहिये त सूर्य चन्द्र-पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु आदि पदार्थो से कैसे लाभ उठा चाहिये । इस विषय का ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्यों को दिया जि भारतीय परम्परा में "वेद" कहते हैं । इस विषय में वेदान्त दर्शन रचयिता महर्षि वेदव्यास ने वेदान्त दर्शन के प्रारम्भ में लिखा है ब्रह्म (परमात्मा) को जानने की इच्छा है । वह ब्रह्म कैसा है? इ विषय में आगे लिखा है कि जो ब्रह्म संसार को बनानेवाला, पाल करनेवाला और अन्त में संसार का प्रलय करनेवाला है ऐसे ब्रह्म जानने की इच्छा है । इसके साथ ही आगे लिखा है कि वह ब्र वेदादि शास्त्रों का ज्ञान देनेवाला भी है । अर्थात् ब्रह्म, संसार के बन पालन करने और अन्त में प्रलय करने का वर्णन करनेवाला भी है संसार कैसे बना? क्यों बना? मानव जीवन का क्या उद्देश्य औ कर्तव्य है? इसको बतानेवाला भी परमात्मा है । यदि इसको इस प्रक कहा जाय कि संसार के दो पृष्ठ हैं । एक पृष्ठ पर वे सारे नियम जहा संसार में दीख रहे हैं जैसे आग में उष्णता, पानी में शीतल अर्थात् अग्नि को हाथ पर रखें, या हाथ अग्नि में गिर जाय, को जानबूझकर हाथ को आग में डाले, या भूलसे हाथ अग्नि में गि जाय । चाहे बच्चे का हाथ हो या बूढ़े का, चाहे मूर्ख का हो या विद्वा का, चाहे निर्धन का हाथ हो या धनवान का, "हाथ सभी का जलेगा यह एक नियम है । तो इस नियम का वर्णन संसार के दूसरे पृष्ठ है जिसे हम ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं । इसे हम लिखित (Theory) औ

प्रायोगिक (Practical) कहते हैं । अर्थात् वेद (Theory) है संसार (Practical) है । किसी भी पदार्थ का पूर्ण ज्ञान यालाभ हमें लिखित रूप में और प्रयोग के रूप में अथवा व्यावहारिक रूप में ज्ञान प्राप्त करने पर होता है । वेद और संसार दोनों एक दूसरे के पूरक है । वेद के द्वारा मनुष्य को सांसारिक पदार्थों का अधिकाधिक ज्ञान होता है और सांसारिक पदार्थो का अधिक ज्ञान रखने वाले बहुश्रुत व्यक्ति को वेद के अर्थ अधिक स्पष्ट होते हैं । जिसको जितना ज्ञान होगा उसको वेद से उतना ही अधिक एवं शीघ्र ज्ञान प्राप्त होगा ऐसा ही निरूक्त में भी कहा गया है ।

जैसे माता पिता बच्चों के कल्याण के लिये बच्चों को बचपन से ही अच्छी बातें सिखाते हैं वैसे ही परमात्मा ने मनुष्य के कल्याण के लिये ज्ञान दिया ।

विद्यार्थी गुरु से ज्ञान प्राप्त करता है, उसके गुरु ने अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त किया । इस प्रकार जितना पीछे जायेंगे, अन्त में यही प्रश्न उपस्थित होता है कि संसार के प्रारम्भ में किसने ज्ञान दिया? इसका उत्तर देते हुए योगदर्शन के रचयिता महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि वह परमात्मा गुरुओं का भी गुरु है जिसने सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञान दिया है । मनुष्य और पशुओं में यही अन्तर है कि पशु को अपने जीवन का निर्वाह करने के लिये स्वाभाविक ज्ञान पर्याप्त है, जबकि मनुष्य को अपने जीवन के पालन और रक्षा के लिये ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है, मनुष्य का कार्य स्वाभाविक ज्ञान से नहीं चलता है । जैसे गाय का बछड़ा पानी में गिर जाय तो वह तैर कर निकल जायेगा किन्तु मनुष्य का बालक पानी में गिर जाय तो डूबकर मर जायेगा । उसको जीवन बचाने के लिये पानी में तैरना सीखना पड़ेगा । इसी प्रकार अन्य रक्षा उपायों के लिये भी उसे ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है । इसलिये वह गुरुजनों से ज्ञान प्राप्त करता है । ज़ब संसार बना और प्रथम वार मानव पैदा हुआ उस समय उसपो ज्ञान परमात्मा ने ऋषियों के माध्यम से दिया । उसी ज्ञान को ईश्वरीय ज्ञान या ''वेद'' कहते हैं । ऐसा ब्रह्मा से लेकर महर्षि दयानन्द पर्यन्त सभी ऋषि मुनि सन्त

महात्मा आचार्य मानते हैं ।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि ईश्वरीय ज्ञान सबसे पुराना अर्थात् जितना पुराना संसार है उतना ही पुराना उसका दिया हुआ ज्ञान होना चाहिये । यदि विद्यालय पहले प्रारम्भ हो जाय और उसके नियम बाद में घोषित किये जायं तो पहले पढ़ने वाले विद्यार्थी बाद में घोषित किये जाने वाले नियमों से वञ्चित रह जायेंगें और इस कारण नियम भी विद्यालय के प्रारम्भ के साथ ही बताये जाते हैं । इसी प्रकार यदि अग्नि से जलने का नियम है तो इस नियम का ज्ञान भी नियम के साथ दिया जाना चाहिये । इस दृष्टि से ईश्वरीय ज्ञान की योग्यता उन्हीं ग्रन्थों में होगी जो सबसे प्राचीन हों और संसार बनने के साथ ही इनका उपदेश दिया गया हो । इस दृष्टि कोण को ध्यान में रखते हुए जब हम सभी ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं तो हमें ज्ञान होता है कि कुरान को बने १४०० वर्ष, बाईबिल को बने हुए लगभग २००० वर्ष यहूदियों के धर्म ग्रन्थ पुरानी बाईबिल (Old testament) को बने हुए ३५०० वर्ष, तथा पारसी धर्म के ग्रन्थ जन्दावस्था को बने हुए ४००० वर्ष हुए हैं । वेदों को पाश्चात्य विद्वान् २००० वर्ष ईसवी पूर्व, जैकोबी ४००० वर्ष ईसवी पूर्व, लोकमान्य टिलक १०,००० वर्ष ईसवी पूर्व, श्री अविनाश चन्द्र दस बीस हजार वर्ष, पं. दीनानाथ तीन लाख वर्ष तथा पागवी तीन लाख वर्ष से भी अधिक काल वेदों का मानते हैं । वेदिकों के अनुसार संसार को बने हुए लगभग दो अरब वर्ष हो गये हैं और इतना ही समय वेदों को बने हुए हुआ है । किन्तु जोलोग इस मान्यता को नहीं मानते हैं वे भी इतना तो स्वीकार करते हैं कि संसार के पुस्तकालय में वेद सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ हैं ! इस युक्ति से वेद ही ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ कहलाते हैं ।

२. ईश्वरीय ज्ञान की दूसरी विशेषता होगी कि उन ग्रन्थों में कोई भी ऐसी बात नहीं होगी जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध हो । अर्थात् संसार में जो नियम विद्यमान हैं, उनके विपरीत वर्णन उन ग्रन्थों में नहीं होना चाहिये । क्योंकि नियम का बनाने वाला और नियम को बतलाने वाला एक ही परमात्मा है, अतः इनमें विरोध नहीं होना चाहिये । इस

दृष्टि से जिन ग्रन्थों में यह लिखा कि पानी में पत्थर तैर गये, बिना दवाई के अन्धे को आँखे देदी, मूर्दे को जिन्दा कर दिया, बिना पिताके कुमारी मां से बच्चा पैदा हो गया, चन्द्रमा को पृथ्वी पर खडे मनुष्य ने हाथ से छू लिया, या सूर्य को मुंह में रख लिया, पृथ्वी को चटाई की तरह लपेटकर सिर के नीचे रखकर सो गया इत्यादि बातें प्रत्यक्ष के विरुद्ध हैं। ऐसी बातें जिन ग्रन्थों में हैं वे ईश्वरीय ग्रन्थ नहीं हैं। वेदों में प्रत्यक्षविरुद्ध ऐसी बातें नहीं हैं।

३. तीसरी विशेषता यह होगी कि इन ग्रन्थों में किसी देश विशेष का भौगोलिक वर्णन या राजा महाराजाओं के इतिहास का वर्णन नहीं होना चाहिये। क्योंकि इतिहास व्यक्ति के बाद लिखा जाता है, व्यक्ति पहले होता है। इस दृष्टि से वेदों में इतिहास नहीं है अतः ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ माने जाते हैं।

४. चौथी विशेषता होगी - कि ईश्वरीय ज्ञान हमेशा एक जैसा रहता है उसमें कोई परिवर्तन या संशोधन नहीं होता है क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ और पूर्ण है इसलिये उसके ज्ञान में किसी प्रकार की कमी नहीं होती है। अतः उसमें परिवर्तन नहीं होता है। मनुष्य का ज्ञान थोड़ा होता है। अतः मनुष्य को जैसे ज्ञान होता जाता है वह अपने ग्रन्थों में परिवर्तन और संशोधन करता रहता है। जिन ग्रन्थों के बारे में यह कहा जाता है कि पहले कुछ कमी थी अब इसमें सुधार कर लिया है इसमें कोई कमी नहीं है वे ग्रन्थ ईश्वरीय ज्ञान की श्रेणी में नहीं आते हैं। वेद के मन्त्रों के शब्दों का क्या कहना, मन्त्र की एक मात्रा भी परिवर्तित नहीं हो सकी। वेदमन्त्रों को वेदपाठी ब्राह्मणों ने आठ आठ प्रकार से उच्चारण करके कण्ठस्थ रखा है। जिससे आज तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

५. पांचवी विशेषता यह है कि सभी प्राचीन आचार्यों ने वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार की है। वेदों को प्रामाणिक मानने वालों को आस्तिक और वेदों को प्रामाणिक न मानने वाले को नास्तिक कहा गया है। अवतारवाद के माननेवालों ने बुद्ध को अवतार तो मान लिया किन्तु बुद्ध ने वोदों के प्रमाण को नहीं माना इसलिये उन्हें नास्तिक अवतार कहा गया।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतीय परम्परा में 'वेद' को ईश्वर प्रदत्त माना जाता है। जिसे परमात्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद का क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य और अंगिन इन चार ऋषियों को ज्ञान दिया। परमात्मा सर्वव्यापक है वह हमारे हृदय में भी है। ऋषि पवित्रात्मा (मुक्तात्मा) थे इनके हृदय पवित्र थे। पवित्र आत्माओं के हृदय में परमात्मा ने अपने ज्ञान का प्रकाश किया। तत्पश्चात् ऋषियों ने उपदेश और प्रवचन के द्वारा मनुष्यों को यह ज्ञान दिया। इस प्रकार पढ़ने पढाने की परम्परा (गुरु परम्परा) प्रारम्भ हुई।

जिस प्रकार ईश्वर के बनाये हुए पृथ्वी - अग्नि - वायु आदि पदार्थ सभी व्यक्तियों के उपयोग के लिये हैं। उसी प्रकार वेदों को भी सभी मनुष्य पढ़कर लाभ उठा सकते हैं। किसी को भी इनके ज्ञान से वञ्चित नहीं किया जा सकता है। कुछ वर्षों से गलत परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी कि स्त्री और शूद्र वेद को नहीं पढ़ सकते हैं। इस युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अनेक तर्क और प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया कि वेद को पढ़ने का सभी को अधिकार है। वेद चार है
१. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद, ४. अथर्ववेद

१. ऋग्वेद :- इसमें विविध विषयो का वर्णन है। इसमें १०५८० मंत्र है मंत्र संख्या के बारे में विस्तृत जानकारी के लिये पं. युधिष्ठर मीमांसक कृत "ऋग्वेद की ऋकसंख्या" नामक पुस्तक पढ़ें। इसका भाष्य स्कन्दस्वामी - वेंकटमाधव सायण तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ७ वें मण्डल तक किया है। वेदों का अर्थ हिन्दी और संस्कृत में ऋषि दयानन्द सरस्वती ने किया है जब कि अन्य विद्वानों ने संस्कृत में ही भाष्य किया है। हिन्दी भाषी जन समुदाय पर स्वामी दयानन्द सरस्वती का महान उपकार है जिन्होंने जन सामान्य तक वेद ज्ञान को पहुंचाने का महान और अद्भुत प्रयत्न किया है। पं. जयदेव विद्यालंकार ने भी हिन्दी में भाष्य किया है।

२. यजुर्वेद :- इसमें कर्म का वर्णन है। इसमें चालीस अध्याय और १९७५ मन्त्र हैं। इसका भाष्य उव्वट महीधर और ऋषि दयानन्द सरस्वती तथा पं. जयदेव विद्यालंकार ने किया है।

३. सामवेद :- इसमें उपासना का वर्णन है । इसमें १८७५ मन्त्र हैं । इसका भाष्य भट्टभास्कर - भरतस्वामी - सायण, पं. जयदेव विद्यालंकार तथा तुलसीरामस्वामी तथा अन्य विद्वानों ने किया है । तुलसीराम स्वामी कृत हिन्दी भाष्य स्वाध्याय के लिये अति उपयोगी है ।

४. अथर्ववेद :- उसमें विज्ञान से सम्बन्धित विषय हैं । उसमें ५९७७ मन्त्र हैं । इसका भाष्य सायण - पं. क्षेमकरण त्रिवेदी, पं. जयदेव विद्यालंकार ने किया है ।

वेदों के पश्चात् उपवेदों की रचना हुई । उपवेद चार हैं । १. आयुर्वेद २. धनुर्वेद ३. गन्धर्ववेद ५. अर्थवेद ।

१. आयुर्वेद :- ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है । उसमें शरीर की रक्षा और चिकित्सा का वर्णन है । इसके चक-सुश्रुत और अष्टांगहृदयादि ग्रन्थ मिलते हैं ।

२. धनुर्वेद :- यह यजुर्वेद का उपवेद है इसमें धनुर्विद्या का वर्णन है ।

३. गन्धर्ववेद :- यह सामवेद का उपवेद है । उसमें संगीत विद्या का वर्णन हैं ।

४. अर्थवेद :- यह अथर्ववेद का उपवेद है । इसमें ज्ञान, विज्ञान, शिल्प विद्या आदि का वर्णन है । कई विद्वानों का मत है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद हैं । क्यों कि ऋग्वेद की तरह अथर्ववेद में भी औषधि विषयक मन्त्र मिलते हैं ।

वेदों को समझने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई । ब्राह्मणग्रन्थों में वेदों में प्रयुक्त शब्दों की विस्तृत व्याख्या हैं । यज्ञ के विषय में भी वर्णन हैं । प्रमुख ब्राह्मणग्रन्थ चार हैं । १. ऐतरेय ब्राह्मण २. शतपथ ब्राह्मण ३. साम या ताण्ड्य ब्राह्मण ५. गोपथ ब्राह्मण ।

वेदों में विद्यमान गम्भीर विषयों को समझाने के लिये वेदांग और उपांगों की रचना की गयी । उपांग ६ हैं इनको ही दर्शन शास्त्र कहते हैं जो इस प्रकार है । १. न्याय दर्शन २. वैशेषिक दर्शन ३. सांख्य दर्शन ४. योग दर्शन ५. वेदान्त दर्शन ६. मीमांसा दर्शन ।

ये दर्शन शास्त्री वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं ।

इसलिये इनको आस्तिक दर्शन कहते हैं । चारवाक जैन और बौ
दर्शन वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते हैं इसलिये ये शास्त्र
नास्तिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं ।

वेदों को पढ़ने के लिये ऋषि मुनियों ने वेदांगों की रचना की
वेदांग ६ हैं ।

१. **शिक्षा :-** इसमें स्वर (Vowell) और व्यंजन (Consonant)
का वर्णन हैं । स्वर तथा व्यंजनों के कितने भेद हैं इनके उच्चारण करने
की क्या विधि हैं । जिससे वेदो का शुद्ध उच्चारण किया जा सके
इत्यादि विषयों का वर्णन है ।

२. **व्याकरण (Grammer) :-** वर्ण-अक्षर अर्थात् स्वर और
व्यंजनों से मिलकर शब्द किस प्रकार बनते हैं । शब्द रचना अर्थात्
प्रकृति और प्रत्यय का विस्तृत विवेचन व्याकरण शास्त्र में किया गया
है । पाणिनीय व्याकरण संसार में मानव मस्तिष्क की अनुपम देन है
व्याकरण को वेद का मुख बताया गया है । वेद के ज्ञान में व्याकरण
का प्रमुख स्थान है ।

३. **निरुक्त :-** वेद में आये हुए शब्दों के अर्थो का विवेचन
किया गया हैं । वेदमें आये एक शब्द के अनेक अर्थ कैसे होते हैं
इसका विस्तार से वर्णन किया गया है ।

४. **छन्द :-** वेद मन्त्रों में कितने अक्षर का कौनसा छन्द होता
है जिससे अर्थ को जानने में सुविधा हो यह वर्णन इसमें किया गया
है ।

५. **ज्योतिष :-** ग्रह उपग्रहों का भ्रमण का वर्णन तथा खगोल
और भूगर्भ विद्यां का वर्णन है ।

६. **कल्प :-** इसमें याज्ञकि कर्मकाण्ड का वर्णन है,

उपनिषद्

वैदिक साहित्य में उपनिषदों का महत्वपूर्ण स्थान है । उप तथा
नि उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु से 'उपनिषद्' शब्द बनता है । सद् धातु
के नाश करना, गति अर्थात् प्राप्ति तथा शिथिल करना ये तीन अर्थ
हैं । उपसर्ग उप का अर्थ समीप तथा नि का निश्चित अर्थ है । अर्थात्

उपनिषद् वे ग्रन्थ हैं जिनका अध्ययन करने से अविद्या - अन्धविश्वास नष्ट होता है, या जिनसे निश्चितरूप से परमात्मा के समीप पहुंचने की प्रेरणा मिलती है तथा जो सुख दुःख, जन्म-मृत्यु, अपमान-मान, अनुकूल-प्रतिकूल आदि बन्धनों को शिथिल करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। उपनिषद् किस प्रकार जीवन में प्रेरणा प्रदान करते हैं। इस विषय में इनका स्वाध्याय करने वाले देशी और विदेशी विद्वानों ने अपनी मनोभावनाओं को इस प्रकार व्यक्त किया है —

१) दाराशिकोह ने उपनिषदों के बारे में लिखा है कि "मैने अध्यात्मविद्या के बहुत ग्रन्थ पढे हैं परन्तु परमात्मा की खोज की प्यास जो अथाह सागर की भांति है पल पल बढ़ती ही गयी। बडी बडी सूक्ष्म समस्याएं और प्रश्न हृदय में उत्पन्न होते थे जिनका समाधान ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त नहीं हो सकता था। मैंने कुरान, तौरेत, इंजिल, जबूर आदि कई ग्रन्थों को पढ़ा परन्तु मन की प्यास नहीं बुझा सका। मुझे ब्रह्मज्ञान की धुन लगी थी। मैंने निश्चय किया कि उपनिषदों के अध्ययन का ये ग्रन्थ ब्रह्मज्ञान के भंडार है इनका अध्ययन आत्मा में शान्ति और आनंद को उत्पन्न करता है।" ये शब्द उसने उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद करते समय लिखे हैं। सन् १६५७ से १६७४ तक उसने ५२ उपनिषदों का अनुवाद किया।

जर्मनी के प्रसिद्ध दर्शनिक विद्वान शौपनहार ने सन् १८१२ में लिखा "उपनिषदों का प्रत्येक उपदेश बहुत महत्त्वपूर्ण विचारों तथा बहुत ऊंची और सच्ची भावनाओं से भरपूर है। संसार में किसी भी पुस्तक का स्वाध्याय इतना लाभ देने वाला तथा आत्मा को ऊपर उठानेवाला नहीं है जितना उपनिषदों का है। मेरी आत्मा को उपनिषदों से ही शान्ति मिली है और मरने के पश्चात् भी इन्हीं से शान्ति मिलेगी।"

प्रो. मेक्समूलर ने लिखा है कि "यदि वास्तविकता जानने का उद्देश यह है कि मनुष्य मृत्यु के भय से बच जाय और मृत्यु के लिये पूरी शक्ति से तैय्यार हो जाय तो मेरी सम्मति में उपनिषदों का अध्ययन करने के अतिरिक्त दूसरा कोई भी श्रेष्ठमार्ग नहीं है। मैं

उपनिषदों का बहुत ऋणी हूँ कि उनसे मुझे अपने जीवन सुधार बहुत सहायता मिली है ।''

स्वीडन के प्रसिद्ध विद्वान् पाल डयूमन ने लिखा कि ''उपनि मनुष्य की मेधा बुद्धि का अनमोल फल है । जीवन और मृत्यु समय केवल दुःख और कष्ट के समय नहीं अपितु हर समय प्रतिक्ष उनसे ऐसी शान्ति मिलती है जैसी और कहीं नहीं मिलती । भारत लोगों के पास आत्मज्ञान और आत्मशान्ति का ऐसा कोष है जो संस में किसी के पास भी नहीं है ।''

मिस्टर ह्यूम ने अपनी पुस्तक 'Dogmas of Budhism' लिखा है कि ''मैंने अरस्तू, सुकरात, अफलातून और कितने ही अ विद्वानों के ग्रन्थ बहुत ध्यान से पढे हैं किन्तु जैसी विद्या उपनिषदों मैंने देखी और जितनी शान्ति इनसे मिली वैसी किसी भी स्थान मुझे नहीं मिली ।'' श्री जी. आर्क एम. ए. ने अपनी पुस्तक में लिख है कि ''उपनिषदों के ज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य आत्मिक, मानसिक और सामाजिक आवश्यकताएं किस प्रकार पू हो सकती हैं । उपनिषदों की शिक्षा अत्यंत ऊँची सुन्दर और ऐ सत्य से भरपूर है जो कि हृदय पर चित्रित हो जाता है । क्योंकि ज मनुष्य संसार के दुःख और चिन्ताओं से घिर जाता है । तब उपनिषद के अतिरिक्त उसके मन और आत्मा को शान्ति देने के लिये दूस कोई भी साधन उसे नहीं मिलता है । जो उसे सहारा दे सके ।''

उपनिषदों के महत्व एवं लोकप्रियता के कारण उपनिषदों के ना से अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है । उपनिषद प्रकाश में आचा विश्वश्रवा ने मुद्रित-अमुद्रित २५० उपनिषदों के नामों का उल्लेख है जिसमें अल्लोपनिषद का भी उल्लेख है । किन्तु इस समय ११ उपनिषदें प्रकाशित हैं । किन्तु प्रामाणिक उपनिषदें ११ ही है जिनके नाम इ प्रकार हैं ।

१. ईश २. केन ३. कठ ४. प्रश्न ५. मुणुक ६. माण्डूण्य ७ ऐतरेय ८. तैतिरीय ९. छान्दोग्य १०. बृहदारण्यक ११. श्वेताश्वतर

मनुस्मृति - मानव धर्म शास्त्रके रूप में मनुस्मृति सबसे प्राची ग्रन्थ है । वेदों में सूक्ष्म रूप से विद्यमान मानवीय कर्तव्यों का विस्तृ

विवेचन जिन ग्रन्थों में किया गया उन्हें मानव धर्म शास्त्र या स्मृति ग्रन्थ कहते हैं। स्मृति ग्रन्थ (मानव धर्मशास्त्र) भी वेदों का ही अनुसरण करते हैं अर्थात् वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। इस विषय में कवि कालिदास ने लिखा है कि जैसे स्मृति ग्रन्थ वेद का अनुसरण करते है। (श्रुतेरिवार्थ स्मृतिरन्वगच्छत्..... (रघुवंश) वेद और स्मृति में कौन अधिक प्रामाणिक है? इस विषय को स्पष्ट करते हुए महर्षि जैमिनी ने पूर्वमीमांसा में लिखा है कि स्मृति के वाक्य वेद के विरुद्ध है तो वे अप्रामाणिक हैं, मानने व आदर करने के योग्य नहीं है। (श्रुति विरोधे स्मृति वआक्यमनपेक्ष्यमप्रमाणमनादरणीयम्.. पूर्व मी. ।) अर्थात् वेदों की प्रामाणिकता सर्वोपरि है तथा वेदानुकूल ग्रन्थ प्रामाणिक है और वेद के प्रतिकूल ग्रन्थ अप्रामाणिक हैं। इसलिये कहा गया है कि वेद स्वतः प्रमाण है और ऋषियों के ग्रन्थ परतः प्रमाण है।

वेदों म्में विद्यमान गूढ़ रहस्यों को स्मृतियों ने सरल, सुगम और स्पष्ट किया है इसलिये विद्वानों ने स्मृतियों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि बुद्धिमान मनुष्यों के लिये श्रुति और स्मृति ये दो आँखें है। इन दो में से एक से विहीन जो होता है वह व्यक्ति काणा है तथा दोनों से ही विहीन है वह अन्धा है। अर्थात् वेदों की स्पष्ट जानकारी के लिये स्मृतियों का अध्ययन भी आवश्यक है और स्मृतियों में वर्णित विषयों की प्रामाणिकता के लिये वेद का अध्ययन भी आवश्यक हैं।

मानव धर्म शास्त्र अर्थात् स्मृति ग्रन्थों की अनेक विंद्वानों ने रचना की। मनु के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य, गौतम अत्रि, नारद हारीत आदि के नामों से २८ स्मृतियों का उल्लेख मिलता है किन्तु मनुस्मृति ही सर्वाधिक प्रामाणिक, प्रचलित एवं प्राचीन है। इसकी महत्ता का वर्णन अनेक ग्रन्थकारों ने किया है। छान्दोग्य ब्राह्मण में इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि मनु ने जो कुछ कहा है वह औषधियों का भी परम औषध है। (मनु वै यत् किञ्चिदवद्त तद् भेषजं भेषजतायाः) अर्थात् मनुष्य के लिये जिस प्रकार औषधी हितकारी होती है वैसे ही मनु के द्वारा उपदिष्ट धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) मनुष्यमात्र के लिये कल्याण एवं

हितकारक है । मनुस्मृति के महत्त्व का वर्णन करते हुए इसके प्राचीन टीकाकार श्री कुल्लूक भट्ट ने बृहस्पति के श्लोक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि वेदार्थ से युक्त होने के कारण मनुस्मृति प्रधान है । मनु के अर्थ के विपरीत जो स्मृतियाँ है वे प्रशंसनीय नहीं हैं । तर्क व्याकरण तथा अन्य शास्त्र तभी तक शोभा प्राप्त करते हैं जब तक कि धर्म अर्थ और मोक्ष के उपदेष्टा मनु के दर्शन नहीं होते हैं ।

मनुस्मृति का उचित मूल्यांकन करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में उसके पांच सौ से अधिक श्लोकों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया ।

पाश्चात्य विद्वानों ने मनुस्मृति की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। जर्मन के दार्शनिक श्री फ्रीडरिच नीत्से ने मनुस्मृति को बाईबिल से उत्तम बताया है । आधुनिक विद्वानों ने महर्षि मनु को कानून (संविधान) का आदि निर्माता कहा है । तथा आधुनिक भारतीय संविधान निर्माता डॉ. भीमराव आम्बेडकर को ''आधुनिक मनु'' कहकर सम्बोधित किया है । इस प्रकार मनुस्मृति कानून (संविधान) का मूल एवं प्रारम्भिक शास्त्र है । जिसके आधार पर मानव समाज अपने मूलभूत नियमों में मनु का आदि पुरुष माना जाता है । जिसने सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात किया । मनु के सन्तान सभी मनुष्य है ऐसा महर्षि यास्क ने निरुक्त में लिखा है । (मनोः अपत्यम् मनुष्यः निरुक्त ३-५) इसलिये पुरुष को कहने वाले सभी शब्द मनु शब्द से बने है । जैसे मनुष्य, मानव, मनुज-मानुष आदि । भाषा विज्ञान के विद्वानों के अनुसार मेन-मेनिस-मनीस आदि विदेशी भाषा में प्रचलित मनुष्य वाचक शब्द 'मनु' शब्द के ही परिवर्तित रूप है ।

मनुस्मृति में बारह अध्याय हैं तथा इसमें इस समय कुल २६८५ श्लोक हैं जिसमें १५०२ प्रक्षिप्त है तथा ११८३ मौलिक है यह विवेचन डॉ सुरेन्द्रकुमार ने अपने भाष्य में प्रस्तुत किया हैं । इन ग्रन्थों के अतिरिक्त बाल्मीकि रामायण-महाभारत-गीतादि ग्रन्थ भी संस्कृत भाषा में विद्यमान है । जिनमें वैदिक विचारों का वर्णन मिलता है ।

ब्रह्मयज्ञ
(सन्ध्योपासना)

जब कोई मनुष्य किसी दुःखी व्यक्ति की सेवा करता है या उसको किसी वस्तु या धन की आवश्यकता होने पर उसकी सहायता करता है तब सेवा और सहायता करने वाले व्यक्ति को सहायता प्राप्त करने वाला व्यक्ति, धन्यवाद देता है, उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। जीवन भर कष्ट के समय सहयोग करने वाले व्यक्ति के उपकारों को स्मरण करता रहता है। जो व्यक्ति दूसरों के किये हुए उपकारों को नहीं मानता है उसे "कृतघ्न" कहते हैं, कृतघ्नता को पाप कहा गया है।

संसार के सभी पदार्थ मूल रूप से परमात्मा ने बनाये हैं। मनुष्य रोटी-कपड़ा-बर्तन-टेबल-कुर्सी-मकानादि पदार्थों को बनाता है तथा इन पदार्थों का रचयिता मनुष्य स्वयं अपने को समझता है किन्तु रोटी कपड़े आदि की रचना जिन पदार्थों से होती है वे मनुष्य ने नहीं बनाये हैं अपितु वे सभी ईश्वर के बनाये हुए हैं। जैसे गेहूँ के आटे से रोटी, रूई (कपास) से कपड़ा, ईट, पत्थर-मिट्टी-पानी आदि से मकानादि बनते हैं किन्तु गेहूँ से आटा बनता है, आटे से मनुष्य ने रोटी, पूड़ी, हलवादितो बनालिया किन्तु गेहूँ के एक दाने की रचना मनुष्य नहीं कर सकता है। मनुष्य जैसे स्टील के बर्तन चम्मच-कटोरी-थाली आदि करे बंनाने के लिये फेक्ट्री खोल लेता है वैसे ही गेहूँ कीं फेक्ट्री नहीं खोल सकता, जहां गेहूँ तैय्यार किये जा सके। गेहूँ तो खेत में बोने पर ही पैदा होता है। रूई (कपास) से विविध प्रकार के रंग बिरंगे कपडे मनुष्य ने बना लिये किन्तु जिस रूई या कपास से कपड़ा बनता है उसका रचयिता तो परमेश्वर ही है। इसी तरह वृक्ष-मिट्टी-पानी-पत्थरादि का बनाने वाला परमात्मा है। इन्हीं पदार्थों का कर्ता (बनाने वाला) मनुष्य है उनका भी मूल रूप से कर्ता परमात्मा ही है। परमात्मा की बनाई हुई वस्तु की ही परिवर्तित करके मनुष्य अन्य पदार्थों की रचना करता है। इसलिये संसार के सब पदार्थों का मूल

रूप से रचयिता परमात्मा है । इसी विषय में आर्य समाज के पहले नियम में लिखा है कि "सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है ।"

परमात्मा की बनाई हुई वस्तुओं का प्रतिदिन मनुष्य उपयोग करताहै । उसके बनाये हुए अन्न-फल-दूध मेवा (काजू-किशमिश-बदाम) आदि पदार्थों का उपभोग करता है, उसके बदले में मनुष्य परमात्मा को कुछ नहीं देता, इतना ही नहीं जिस शरीर से मनुष्य सुखों का भोग करता है, सांसारिक क्षेत्र में उन्नति करता है, मोक्ष तक पहूँच जाता है यह शरीर भी तो परमात्मा की ही रचना है । कर्म करने और भोगों को भोगने का साधन तथा भोग सामग्री जिस परमात्मा ने हमें प्रदान की है, उसके लिये कुछ नहीं दे सकते हैं तो कम से कम उसे धन्यवाद तो दें, उसके प्रति आभार या कृतज्ञता प्रकट करें या उसके उपकारों को स्मरण करें ।

मनुष्य अपने घर में विद्युत् (लाइट) जलाता है । एक महीने के बाद उसका बिल आ जाता है किन्तु सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश मनुष्य को सृष्टि के आदि काल से प्राप्त हो रहा है, मनुष्य ने आज तक उसका कोई बिल जमा नहीं कराया । पैसा नहीं दिया । घर में जलने वाली विद्युत् (लाइट) का पैसा जमा न करायें तो दो तीन महीने के बाद विद्युत् (लाइट) का कनेक्शन काट दिया जाता है किन्तु परमात्मा के द्वारा दिहा हुआ सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश मनुष्य को सदा मिलता रहता है । इसी तरह मनुष्य प्रति क्षण प्राण के रूप में वायु प्राप्त होने से यह जीवित है । जल-वायु-प्रकाशादि के द्वारा मनुष्य जीवन को सुरक्षित रखता है । इन सबकी व्यवस्था करने वाला परमात्मा है, जो कभी इन पदार्थों से मनुष्य को वञ्चित नहीं करता है। परमात्मा का यह महान् उपकार मनुष्य के ऊपर है ।

परमात्मा के उपकारों को स्मरण करने, उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने या धन्यवाद देने के लिये तथा परमात्मा का गुणगान करके उन गुणों को जीवन में धारण करने के लिये ईश्वर की पूजा-उपासना मनुष्य को करनी चाहिये । जिसे शास्त्रों में ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्योपासना) कहते है।

यह मनुष्य का नित्य कर्म है, इसे मनुष्य को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। क्योंकि जो परमात्मा के उपकारों को नहीं मानता है बड़ाभारी पापी है कृतघ्न है। इसलिये महर्षि मनुने लिखा है कि जो मनुष्य प्रातः काल और सायंकाल परमात्मा की उपासना नहीं करता है, उसका सामाजिक बहिष्कार कर देना चाहिये अर्थात् उसके साथ ईश्वर भक्तों को उठना, बैठना, खाना-पीना आदि नहीं करना चाहिये।

ब्रह्म शब्द परमात्मा और वेद दोनों के लिये प्रयोग किया जाता है। ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के गुणों का चिन्तन करना उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना या उसे धन्यवाद देना तथा ब्रह्म अर्थात् वेदों का स्वाध्याय करना ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्योपासना) कहलाता है। ईश्वर की उपासना के साथ वेदों का स्वाध्याय भी ब्रह्मयज्ञ है क्योंकि वेदों के स्वाध्याय से ही ईश्वर का स्वरुप उसकी रचना शैली तथा उसके गुण एवं कार्यों का ज्ञान होता है। इन सबको जाने बिना ईश्वरोपासना नहीं हो सकती है इसलिये वेदों का स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ का हिस्सा (एक भाग) है। महर्षि दयानन्द सरस्वती में पंच महायज्ञ विधि में ब्रह्म यज्ञ का वर्णन करते हुए सन्ध्योपासना तथा वेदों के स्वाध्याय का उल्लेख किया है।

सन्ध्या शब्द सम् उपसर्गपूर्वक 'ध्या' धातु से बनता है। जिसका अर्थ सम् - अच्छी तरह, ध्या-ध्यान करना, अर्थात् परमात्मा के गुणों का अच्छीतरह से ध्यान चिन्तन करने को सन्ध्या कहते हैं। परमात्मा के उपकारों को स्मरण करके उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना, उसके गुणों का चिन्तन करते हुए उन गुणों को जीवन में धारण करना जिससे मनुष्य जीवन श्रेष्ठ बन जाय इसलिये सन्ध्योपासना का विधान शास्त्रों में किया गया है।

सर्दी से कांपता हुआ मनुष्य जब जलती हुई अग्नि के पास बैठकर अपनी सर्दी का निवारण करता है। तब वह अग्नि के पास बैठकर अग्नि पर कोई उपकार नहीं करता है। अग्नि के समीप वह बैठे या न बैठे उससे अग्नि में कोई फर्क नहीं पड़ता अपितु अग्नि के पास बैठने वाला व्यक्ति ही अग्नि की उष्णता से लाभ उठाता है।

इसी प्रकार परमात्मा को इसकी आवश्यकता भी नहीं है कि मनुष्य उसका गुणगान करे, क्योंकि वह न तो प्रशंसा से रकश होता है और न निन्दा से नाराज होता है। परमात्मा तो पूर्ण है उस में कोई न्यूनता नहीं हैं। प्रशंसा से प्रसन्न होना या निन्दा सुनकर दुःखी होना तो मनुष्य का स्वभाव है क्योंकि जीव अल्पज्ञ है। परमात्मा तो पूर्ण है सर्वगुण सम्पन्न है उस को किसी की प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है ऐसा नहीं होता है कि ईश्वर पूजा से प्रसन्न होकर पूजा करने वाले किसान के खेत में पानी की वर्षा कर दें और ईश्वर की निन्दा करने वाले पड़ौसी किसान के खेत में पानी की वर्षा न करे। परमात्मा आनन्द से परिपूर्ण है, उसमें कोई न्यूनता नहीं है, इसलिये वह अपरिवर्तन शील है। परमात्मा की उपासना हम उसके लिये नहीं करते हैं। अपितु जो मनुष्य ईश्वर की उपासना करता है उसके गुणों का चिन्तन करके गुणों को जीवन में धारण करता है उसका जीवन श्रेष्ठ हो जाता है तथा जो उपासना नहीं करता, गुणों का चिन्तन नहीं करता, उसके जीवन में उन ईश्वरीय गुणों का अभाव हो जाता है। इस तरह वह व्यक्ति श्रेष्ठ जीवन से वञ्चित हो जाता है।

जो व्यक्ति दूसरों की सेवा-सहायता-परोपकारादि शुभ कर्म करता है उसको परमात्मा की उपासना की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि शुभ कर्म करने की प्रेरणा प्राप्त करने के लिये ईश्वर की पूजा करनी चाहिये और यदि वह प्रेरणा स्वतः प्राप्त है और हम अच्छे कर्म कर रहे हैं तो फिर हमको ईश्वर की उपासना करने की क्या आवश्यकता है ऐसे विचार मनुष्य में कभी कभी आते रहते हैं। इस विषय में वैदिक मान्यता यह है कि शुभ कर्मों को करने से पहले मनुष्य मन से शुभ कर्मो को करने का विचार करता है, उसके बाद कर्म करता है। शुभ कर्मों के विचार मन में सदा आते रहे इसके लिये मन की पवित्रता आवश्यक है क्योंकि पवित्र मन में ही पवित्र (शुभ) विचार आते है तथा मन की पवित्रता ईश्वर की उपासना से ही होती है। क्योंकि भौतिक पदार्थों से शरीर वस्त्रादि की शुद्धि हो सकती है, मन शुद्ध और पवित्र तो ईश चिन्तन एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति के बिना

नहीं हो सकता है । बिना पवित्र मन के पवित्र कार्य नहीं किये जा सकते है इसलिये ईश्वर की उपासना जीवन में आवश्यक है । जो मनुष्य दूसरों की सेवा-सहायतादि काय करता है तथा परमात्मा की पूजा नहीं करता है तो धीरे धीरे उसमें न्यूनताएं आने लगती है, वह परोपकार करता हुआ यह अपेक्षा लोगों से रखने लगता है कि जिन व्यक्तियों का मैं सहयोग कर रहा हूँ, ये लोग मेरी प्रशंसा करे, मेरे प्रति आभार प्रकट करें । यह भावना भी दृढ होती जाती है कि मैं इतना समाज सेवादि परोपकार के कार्य करता हूँ तो मेरा नाम समाचार पत्रों में आना चाहिये, मुझे लोग फूलों के माला पहनावे, मेरा फोटों खींचना चाहिये इत्यादि लोकैषणा की भावना उसमें जागृत हो जाती है । जब उसकी ये अपेक्षाएं पूरी नहीं होती है तब वह दूसरों के सहयोग सेवा परोपकारादि कर्मों को करना छोड़ देता है ।

ईश्वर की उपासना करने वाला व्यक्ति जब परोपकारादि कार्य करता है तब वह मिथ्या अहंकार से ग्रस्त एवं त्रस्त नहीं होता है कि मैं दूसरों की कितनी सेवा-सहायता या उपकारादि कर रहा हूँ । ईश्वर की साधना करने वाला व्यक्ति दूसरों की सेवा करता हुआ यह सोंचता है कि परमात्मा ने अपने लिये नहीं अपितु दूसरों के कल्याण के लिये संसार को बनाया है । परमात्मा का बनाया हुआ सूर्य दूसरों को प्रकाश और ऊर्जा दे रहा है । उसकी बनायी हुई नदियाँ पानी के द्वारा दूसरों की प्यास बुझा रही हैं, दूसरों को शीतलता प्रदान कर रही है, उसके बनाये हुए वृक्ष दूसरों को फल व छाया प्रदान कर रहे हैं । यदि मिट्टी का एक एक कण और पानी की एक एक बूंद दूसरों के लिये उपयोग में आ रही है तो इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए मुझे दूसरों की सेवा सहायतादि शुभ कार्य करने चाहिये । परमेश्वर और उसके बनाये हुए भौतिक जगत् का मैं अनुकरण कर रहा हूँ । मैं दूसरों की सेवा करता हुआ उन पर कोई एहसान या कृपा नहीं कर रहा हूँ । इस तरह ईश्वर के उपासक को परोपकार करते हुए अहंकार नहीं आता, लोकैषणा से प्रतादित नहीं होता तथा दूसरों से वह कोई अपेक्षा भी नहीं रखता हैं । शुभ कर्म करते हुए भी ईश्वर की साधना करने वाले

और साधना न करने वाले व्यक्ति में इतना अन्तर होता है ।

कुछ व्यक्ति ईश्वर की पूजा-उपासना के विषय में भौतिक प्रलोभन भी देते हैं । परमात्मा की पूजा करने से विद्यार्थी परीक्षा में अच्छे अंक से उत्तीर्ण हो जाता है तो व्यापारी को व्यापार में अपार धन प्राप्त होता है । रोगी व्यक्ति चिकित्सा से यदि ठीक नहीं होता है तो पूजा-पाठ से रोगी व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है । विधान सभा और लोक सभा में चुनाव लड़ने वाला व्यक्ति ईश्वर की पूजा करने से चुनाव जीत जाता है । मुकदमा हारने वाला व्यक्ति मुकदमा जीत जाता है । मकान-गाड़ी, नौकरी (सर्विस) आदि सब कार्य ईश्वर की पूजा, मन्त्र पाठ, अनुष्ठानादि से सिद्ध हो जाते हैं । इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर अनेक व्यक्ति विविध अनुष्ठानों को करते रहते हैं ।

व्यापारिक मनोवृत्तिवाले व्यक्तियों ने अध्यात्म और ईश्वर उपासना के विषय में सांसारिक लाभ हानि को प्रविष्ट कर दिया । जब कि भौतिक और आध्यात्मिक मार्ग दोनों ही पृथक् पृथक् हैं तथा दोनों से लाभ भी पृथक् पृथक् हैं । मकान-गाड़ी आदि भौतिक पदार्थ-भौतिक साधन धन-रुपये पैसे आदि से ही प्राप्त होते हैं । रुपये, सोने, चांदी आदि से दया-नम्रता-सरलतादि सद्‌गुण नहीं प्राप्त होते हैं । तथा ईश्वर की पूजा उपासनादि आध्यात्मिक कर्मों से जीवन में सच्चरित्रता, दया, नम्रता, सेवा, सहायता, परोपकारादि सद् गुण प्राप्त होते हैं । ये सभी गुण धन से नहीं मिलते हैं । इस प्रकार विविध अनुष्ठान-पूजा पाठ या मन्त्र पाठादि से भौतिक लाभ नहीं प्राप्त होते हैं जिनका प्रलोभन कतिपय लोग देते रहते हैं । भौतिक साधनों से भौतिक सम्पत्ति तथा आध्यात्मिक साधनों से आध्यात्मिक सम्पदा प्राप्त होती है । दोनों के क्षेत्र पृथक् पृथक् हैं । इसलिये भौतिकवादी एक पैसे के लिये बैचेन रहता है उसको प्राप्त करने के लिये सच्चे झूंठे सभी साधनों को अपना लेता है । जब कि अध्यात्मवादी अपार धन सम्पदा का प्रलोभन देने पर भी अपने अध्यात्म के पथ से विचलित नहीं होता है । तभी तो यमाचार्य ने नचिकेता को सोने चांदी-हाथी, घोडे आदि अपार धन समूह का प्रलोभन दिया किन्तु नचिकेता ने सभी प्रलोभनों

को ठुकरा कर अद्यात्म पथ पर चलते हुए घोषणा की थी कि धन से कोई व्यक्ति तृप्त नहीं होता हैं ।

ईश्वर की पूजा करने से ईश्वर पाप को क्षमा कर देता है इसलिये ईश्वर की पूजा करनी चाहिये इस तरह की विचार धारा भी कुछ व्यक्तियों की है । वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार यह विचार धारा ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर पाप को क्षमा करके, मनुष्यों को पाप में अधिक प्रवृत्त नहीं करता है । अपराधों के क्षमा करने पर अपराधों की प्रवृत्ति मनुष्यों में अधिक हो जाती है । मनुष्य ने शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में मानवीय गुण ईश्वर पर आरोपित करने का प्रयास किया है । जैसे कोई लोभी लालची व्यक्ति न्यायाधीश होकर पैसे के लालच में या अपनी झूंठी प्रशंसा सुनकर अपराधी के अपराध क्षमा कर देता है । वैसे ही परमात्मा भी अपने भक्तों के द्वारा अपने गुणगान (प्रशंसा) सुनकर भक्तों के पाप क्षमा कर देता है । ऐसे अनेक पद्यों की रचना भी तथाकथित भक्तों ने कर डाली है । जैसे लिखा है कि सेकड़ों मील दूर बैठे बैठे गंगा-गंगा शब्द को बोलने से मनुष्य सारे पापों से मुक्त हो जाता है और परमात्मा को प्राप्त करता हैं ।

ईश्वर पापों को क्षमा कर देता है इस भावना से मनुष्य पापकर्म करने से निश्चिन्त होकर अधिक पापकर्म में प्रवृत्त हो गया जिससे मनुष्य का अद्यपतन हो गया । क्षमा वाद की मान्यता के कारण मनुष्य अनेक दुर्गुण दुर्व्यसनों में ग्रस्तु हो गये । पाप का फल दुःख के रूप में प्राप्त होता है तथा इससे कभी भी बचा नहीं जा सकता है । जब तक यह विचार धारा प्रचलित रही तब तक मनुष्य पाप करने से डरता था कि दुःख कोई नहीं चाहता है । इसलिये जब तक इस वैदिक मान्यता का प्रचलन रहा तब इस देश का राजा घोषणा किया करता था कि मेरे देश में कोई चोर नहीं है, शराबी-दुराचारी-अनपढ़ तथा सन्ध्या हवन न करने वाला व्यक्ति नहीं है । जब चरित्र हीन पुरुष नहीं है तो चरित्र हीन स्त्री कैसे हो सकती है अर्थात् सभी व्यक्तियों का जीवन शुद्ध और पवित्र है । इसलिये ईश्वर पाप को क्षमा नहीं करता यह मान्यता शास्त्रीय, तर्क संगत एवं उपयोगी है ।

क्षमावाद के विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लिखा है क्या ईश्वर पाप क्षमा करता है? इसका उत्तर देते हुए लिखा कि नहीं तो फिर ईश्वर की उपासना क्यों करें? इस विषय में आगे लिखा इसका अन्य ही फल है । ईश्वर की स्तुति करने से उसके गुणों में प्रीति, प्रार्थना से निरभिमानिता एवं सहाय की प्राप्ति तथा उपासना ईश्वर का सानिध्य प्राप्त होता है । तथा पहाड़ जैसी आपत्ति आने भी नहीं घबराता है क्या यह कम बात है । अर्थात् ईश्वर की उपास से अत्यधिक आत्मिक बल प्राप्त हो जाता है । ईश्वर की उपासना क्यों करें इससे क्या लाभ होता है इसका विवेचन स्तुति प्रार्थना उपासना शब्दों की व्याख्या करके स्पष्ट किया । स्तुति अर्थात् परमात्मा के गुणों का चिन्तन करने से उन गुणों को ग्रहण करने की, जीवन में धारण करने की भावना साधक के मन में जागृत होती है । जब ये गुण जीवन में आ जाते है तो उसका जीवन अच्छा (श्रेष्ठ) बन जाता है । जब तक गुण जीवन में न आवे तब तक ईश्वर की स्तुति अधूरी रहती है जो केवल परमात्मा के गुणों का गान करता है और उन गुणों को जीवन में धारण नहीं करता है तो उसके लिये ऋषि ने "भाण्ड के समान गुणगान करना" ऐसे कठोर शब्दों का प्रयोग किया है इसलिये ऋषि दयानन्द ने गायत्री मन्त्र के "धीमहि" शब्द की व्याख्या करते हुए इसके दो अर्थ (१) धीमहि - ध्यायेम अर्थात् ईश्वर के गुणों का ध्यान करते है । (२) धीमहि - धरेमहि अर्थात् परमात्मा के गुणों को जीवन में धारण करें जैसे परमात्मा रक्षक-दुःखों का विनाश करने वाला है इन गुणों को उपासक जीवन में धारण करे कि वह दूसरों की रक्षा करें तथा दुःखों को दूर करे, तब उसकी उपासना पूरी होती है ।

मनुष्य को कभी अपनी भौतिक सम्पत्ति पर अभिमान होता है किसी को अपने शास्त्र ज्ञान (विद्या) पर अहंकार होता है तो कोई अपने शारीरिक बल पर गर्व करता रहता है । अहंकार मनुष्य के जीवन में पतन का कारण है मनुष्य में अहंकार न आने पावे इसलिये ईश्वर की उपासना करनी चाहिये । उपासना के समय मनुष्य परमेश्वर के

बनाये हुए विशाल ब्रह्माण्ड के विषय में सोचता है, तथा ब्रह्माण्ड में विद्यमान सूर्य-चन्द्र-मंगल-बुधादि सभी ग्रह-उपग्रह उसकी व्यवस्था में नियमित रूप से चल रहे है। सारा जड़ चेतन जगत् उसके अनुशासन में विद्यमान है कोई भी उसके नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता है वह परमात्मा महान् सर्वशक्तिमान है। परमात्मा के विशाल स्वरूप के सामने विद्या-बुद्धि-धन-वैभवादि में मनुष्य अपने आपको एक मिट्टी का कण या समुद्र में पानी की एक बूंद के समान अनुभव करता है तब इसका सारा अहंकार समाप्त हो जाता है। इसलिये ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि प्रार्थना से निरभिमानिता प्राप्त होती है।

परमात्मा सब जगह विद्यमान होने के कारण स्थान से उससे कोई दूरी नहीं है किन्तु ज्ञान या अनुभव की दृष्टि से हम परमात्मा से दूर है। जो परमात्मा की उपासना नहीं करता है इसलिये वह उसकी सत्ता का अनुभव भी सर्वत्र नहीं करता है जिससे वह पाप में प्रवृत्त हो जाता है। जब साधक ईश्वर की उपासना करता है तब परमात्मा के सर्वव्यापकत्व गुण का सदा. अनुभव करता है जिससे वह सोचता है किहम जो भी करते हैं उसको परमात्मा जानता है इतना ही नहीं हम जो भी शुभ-अशुभ सोचते हैं उसको भी परमात्मा जानता है। क्योंकि वह सर्वव्यापक होने से हमारे अन्दर भी विद्यमान है। इस कारण ईश्वर को सर्वत्र अनुभव करने से मनुष्य पाप कर्म से ही निवृत्त नहीं होता अपितु पाप करने के विचार से भी निवृत्त हो जाता है। जब पाप करता ही नहीं किसी से भी नहीं डरता है। सांसारिक माता पिता और गुरुजनों की उपस्थिति में मनुष्य पापकर्म नहीं करता है, तथा अनुभव करता है कि मेरे रक्षक मेरे पास है इसलिये भयभीत नहीं होता है। साधक सन्ध्योपासना के द्वारा जब परमेश्वर की सत्ता का सब जगह तथा सदा अनुभव करता है तब पाप कर्म से दूर रहता है और अनुभव करता है कि जन्म जन्मान्तरों से साथ रहने वाला सर्व रक्षक परम पिता परमात्मा मेरे साथ है तो मैं किसी से क्यों भयभीत होऊँ। तभी ऋषि नें लिखा है कि "पहाड़ जैसी आपत्ति आने पर भी व्यक्ति नहीं घबराता है।" साधक व्यक्ति किसी से नहीं डरता है तथा कभी भी

विचलित नहीं होता है इतना धैर्य ईश्वरोपासना से ही प्राप्त होता है

ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्योपासना) का वर्णन महर्षि दयानन्द सरस्वती की "पंच महायज्ञविधि" नामक ग्रन्थ में किया हैं। इसमें उन्नीस मन्त्रों का संकलन किया है। मन्त्र-मन्त्रों के अर्थ तथा विधि का वर्णन किया है। इसका प्रारम्भ ओंभूर्भुवः स्वः... गायत्री मन्त्र से होंता है इसे गुरु मन्त्र और सावित्री मन्त्र भी कहते हैं। इस मन्त्र का छन्द गायत्री होने से इसे गायत्री मन्त्र, गुरु इसी मन्त्र से शिक्षा देना प्रारम्भ करता है इसलिये इसे गुरु मन्त्र तथा इस मन्त्र में सविता (परमात्मा) का वर्णन है इसलिये इसे सावित्री मन्त्र कहते हैं। इस मन्त्र में परमात्मा के गुणों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि परमात्मा हमारा रक्षक, दुःखों का विनाशक तथा आनन्दस्वरूप और अपने उपासकों को आनन्द देनेवाला है। इस ब्रह्माण्ड का रचयिता है। सबसे श्रेष्ठ और पापों का विनाशक करने वाला देव है। ऐसे परमात्म देव का हम ध्यान करते हैं तथा परमात्मा के (दुःख दूर करना दूसरों को सुख देना, दूसरों की रक्षा करना) आदि गुणों को हम जीवन में धारण करते हैं। परमेश्वर ने हमें सब सांसारिक पदार्थ दिये हैं इसलिये उससे भौतिक पदार्थ न मांग कर सद्बुद्धि की प्रार्थना करते हैं कि हमारी बुद्धि शुभ कर्मों को करने के लिये प्रेरित करो।

गायत्री मन्त्र के पश्चात् शन्नो देवी... आचमन मन्त्र से लौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। जिससे हमारा लोक और परलोक दोनों ही अच्छे बनें। लौकिक सुखों के लिये शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहना आवश्यक है इसलिये वाक् वाक् प्राणः प्राणः... अंगस्पर्श मन्त्र से शरीर रोग रहित, स्वस्थ और बलवान् रहे तथा स्वस्थ शरीर से ऐसे कार्य करे जिससे हमारा यश फैले, इसके लिये हमारा वर्तमान में जो कर्म कर रहे हैं तथा भूतकाल में जो कर्म किये है उसके विणय में सोचते रहे अर्थात् आत्मचिन्तन करते रहें इसीलिये मन्त्र के अन्त में "ओं करतल कर पृष्ठे" का उच्चारण करते हैं। इस जन्म के बाद हमें या तो मोक्ष प्राप्त हो या अगले जन्म में भी हमें स्वस्थ और उत्तम शरीर प्राप्त हो इसके लिये ओ भूः पुनातु शिरसि... मार्जन मन्त्र का उच्चारण करके प्राथंना करते

हैं कि हे परमेश्वर! मेरी इन्द्रियों में पवित्रता रहे, मुझे इतनी शक्ति दो की मैं इन्द्रियों के द्वारा शुभ कर्म करता रहूँ क्यों कि शुभ कर्मो का फल सुख है, श्रेष्ठ जीवन में सुखों की प्राप्ति होती है इसलिये अगला जीवन अच्छा हो या आनन्द के भण्डार परमात्मा को प्राप्त करके जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष के सुख का भोग कर सकूं, यह भी तभी संभव होगा जब मन और इन्द्रियों में पवित्रता हो जिसके लिये मार्जन मन्त्र से प्रार्थना की जाती है ।

इन्द्रियों में पवित्रता के लिये मन की पवित्रता आवश्यकता है । मन को पवित्र रखने और विषयों से उसकी निवृत्ति और मन की चंचलता को दूर करने के लिये प्राणायाम मन्त्र का उच्चारण करके प्राणायाम किया जाता है । प्राणायाम का बहुत महत्व है । इस से मन को वश में करने की सफलता प्राप्त होती है । प्राणायाम मन्त्र के बाद ऋतंच... समुद्रादर्ण... सूर्याचन्द्र.... अद्यमर्षण मन्त्रों का पाठ किया जाता है । इस मन्त्रों का उच्चारण करने तथा अर्थों पर चिन्तन करने से मनुष्य को अद्य-पाप तथा मर्षण-दूर हटने अर्थात् पाप कर्म से दूर होने की प्रेरणा मिलती है क्योंकि इन मन्त्रों में परमेश्वर की व्यवस्था का वर्णन है । सारा जड़ चेतन जगत् उसी के अनुशासन में है । कोई भी उसके नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता है । सूर्य चन्द्र पृथ्वी आदि सभी लोक लोकान्तर उसके नियमों का पालन कर रहे हैं । इस सृष्टि में ही नहीं अपितु पहले भी ऐसी व्यवस्था थी और आगे भी ऐसी ही रहेगी । इसलिये मनुष्य कभी भी उसकी व्यवस्था से नहीं बच सकता है । जब ये भाव इन मन्त्रों का पाठ करते हुए आते हैं तब पाप कर्म सेदूर हो जाता है इसलिये इन्हें अधमर्षण मन्त्र कहते हैं ।

अधमर्षण मन्त्रों के पश्चात् प्राची दिगग्नि.... आदि मनसा परिक्रमा के ६ मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ चिन्तन करता है । परमात्मा सब जगह है वह हमारे आगे-पीछे-दायें-बायें-ऊपर-नीचे अर्थात् अन्दर-बाहर सब जगह है । इसलिये सर्वत्र उसकी सत्ता को मानते हुए मन से उसे हम अपने सब तरह इन मन्त्रों के द्वारा देख रहे हैं । उसकी शक्ति महान् है वह ओर से हमारी रक्षा कर रहा है उसको बारम्बार प्रणाम करते हुए निवेदन करते है कि हम किसी से ईर्ष्या द्वेष न करें ।

यदि कोई हमारे साथ द्वेष करता है तो उसकी व्यवस्था आपको सौं हैं क्योंकि आपकी दण्ड व्यवस्था अटूट तथा न्यायपूर्ण है हमें आप न्याय पर पूरा विश्वास है । इसलिये मेरे साथ ईर्ष्या द्वेष करने वाले आप यथोचित दण्ड देकर उसका सुधार एवं कल्याण करेंगे । मैं अ ईर्ष्यालु व्यक्ति से ईर्ष्या नहीं करूंगा, उसको दण्ड देने या उस हानि करने का कभी भी विचार मन में नहीं लाऊंगा । यह निश्चिय मन्त्रों के द्वारा करता है ।

इसके पश्चात् उद्वयं... उदुत्यं... चित्रं देवानां... तच्यक्षु... उपस्थान मन्त्रों से परमात्मा का साक्षात्कार इन जीवन में करने संकल्प लेता है । उप समीप स्थान निवृति अर्थात् परमात्मा के पा बैठने से मन की चंचलता समाप्त हो गयी तथा परमेश्वर के गुण गा में मन स्थिर हो गया है । इन मन्त्रों के द्वारा चिन्तन करता है कि य जीवन व्यर्थ नहीं जाने दूंगा, उत्तम ज्योति परमात्मा को प्राप्त कर रहूंगा । सूय चन्द्र नही, नाले, पर्वत, समुद्रादि परमेश्वर आपका स्मर करा रहे हैं । आपकी उपासना से चित्र बहुत विचित्र अनीकम आत्मिक बल प्राप्त होता है । जिससे मैं सत्य-न्याय-धर्म के मार्ग चलता रहूंगा । आप हमारे चक्षु सर्वद्रष्टा हैं । आपकी कृपा से हम शरद ऋतु अर्थात् सौ वर्ष तक देखता रहूँ, सुनता रहूँ, जीवित और अदीन बनकर रहूँ । इतनी कृपा करना कि जीवन में कभी अदीन-पराधीन न होने पाऊँ सदा स्वावलम्बी बना रहूँ इसके पश्चा गायत्री मन्त्र से सद्‌बुद्धि की प्रार्थना, समर्पण मन्त्र के द्वारा धर्म अ काम और मोक्ष की शीघ्र ही प्राप्त होने की प्रार्थना करने के बाद नमः शम्भवायच... नमस्कार मन्त्र के द्वारा परमेश्वर को प्रणाम करके अन्त में आध्यात्मिक आधि दैविक तथा आधि भौतिक दुःखों की निवृत्ति के लिये तीन बार शान्तिः शान्तिः शान्तिः का पाठ करके ब्रह्मयज्ञ सम्पन्न किया जाता है ।

इस तरह साधक ब्रह्म यज्ञ के द्वारा ईश्वर के गुणों का चुन्तन उसके प्रतिकृतज्ञता प्रकट तथा जीवन को श्रेष्ठ और पवित्र बनाने का निश्चय प्रातः और सायम कर ले । जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है ।

पंचमहायज्ञ

(देवयज्ञ-हवन)

ब्रह्मयज्ञ अर्थात् ईश्वर की उपासना के बाद प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक नित्य कर्म देवयज्ञ है । इसे अग्निहोत्र या हवन भी कहते हैं । यह भी अनिवार्य रूप से प्रतिदिन किया जाने वाला कर्म है इसलिये पंचमहायज्ञों में इसका द्वितीय स्थान है । मनुष्य ईश्वर प्रदत्त सांसारिक पदार्थों का उपयोग करता है इसके लिये वह परमेश्वर को ब्रह्मयज्ञ के द्वारा धन्यवाद देता है मनुष्य ईश्वर प्रदत्त सांसारिक पदार्थों का उपयोग शरीर द्वारा करता है । वह शरीर को स्वस्थ और बलवान रखने के लिये पौष्टिक खाद्य पदार्थ अन्न-फल-मेवा दूध घी आदि का सेवन करता है । किन्तु इस शरीर के मल-मूत्र द्वारा प्राकृतिक वातावरण को दूषित करता रहता है । अपने श्वास-प्रश्वास के द्वारा मनुष्य प्रकृति से शुद्ध वायु ग्रहण करता है और अशुद्ध वायु प्रकृति को लौटाता है । इस प्रकार मनुष्य अपने शरीर के द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण (जल-वायु-पृथ्वी आदि) को दूषित करता है । अपने शरीर द्वारा किये गयें दूषित पर्यावरण को शुद्ध करना भी मनुष्य का नैतिक कर्तव्य है । मनुष्य जिस कपड़े को गन्दा करता है, उसको साफ भी करता है । जिस कमरे या स्थान में गन्दगी करता है उसकी सफाई भी करता है । यदि मनुष्य जिस कमरे में या स्थानं में रहता है और वहां गन्दगी करता जाय तथा उस स्थान को साफ न करे तो उसका एक दिन जीवित रहना भी कठिन हो जायेगा । इसलिये वह नियमित रूप से उस स्थान को साफ करता रहता है । यह उसका नैतिक कर्तव्य भी है । ठीक इसी प्रकार जिस संसार में मनुष्य रहता है और अपने शरीर द्वारा यदि संसार में गन्दगी फैलाता है तो उस गन्दगी को दूर करने का, साफ करने का भी उसका नैतिक कर्तव्य है और इसी नैतिक कर्तव्य को शास्त्रों में नित्यकर्म के रूप प्रतिदिन 'देवयज्ञ' करना चाहिये, यह उल्लेख किया है । इस विषय में महर्षि दयानन्द ने अपने

पूना प्रवचन में कहा है "सब लोग अपने घर में आर्य सम्मत रीति हवन करें। पहले आर्य लोगों का ऐसा सामाजिक नियम था क्यों प्रातःकाल में जो मल मूत्रादिकों की दुर्गन्धि उत्पन्न होती थी। प्रातःकाल के हवन से दूर हो जाती थी। इसी तरह सायंकाल में हवन करने से दिन भर की जमी हुई जो दुर्गन्धि होती उसका नाश हो रातभर वायु निर्मल और शुद्ध चलती थी"। इतना ही नहीं अपितु महर्षि ने स्पष्ट लिखा है कि "जब वायु और वृष्टि जल को बिगाड़नेवाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है उसका निवारण करना भी उनको योग्य है।" महर्षि दयानन्द की मान्यता के अनुसार आज देश में अनेक प्रकार के रोग और कष्ट रहे हैं उसका कारण है यज्ञ न करना कराना। जब तक इस देश में यज्ञ होते रहे तब तक देश में बिमारियां (रोग) नहीं होती थीं। मनुष्य सुख का उपभोग करते थे। जैसा कि उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है "आर्यवर शिरोमणि, महाशय, ऋषि, महर्षि, राजे, महाराजे लोग बहुत सा होम करते कराते थे। जब तक इस होम करने का प्रचार रहा तब तक आर्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी प्रचार हो तो वैसा हो जाए" इन पंक्तियों से विदित होता है कि सुखों की प्राप्ति और रोगों की निवृति का यज्ञ एक श्रेष्ठतम साधन है इसीलिये शास्त्रों में यज्ञ को सब से श्रेष्ठ कर्म कहा है।

मनुष्य जीवन के अन्न-जल और वायु ये तीन मुख्य आधार हैं ये तीन जितने पुष्ट एवं शुद्ध होंगे तो जीवन भी उतना ही पुष्ट एवं रोग रहित रहेगा। अन्न के बिना कुछ दिन मनुष्य जीवित रह सकता है। पानी के बिना कुछ घण्टे तक जीवित रह सकता है किन्तु वायु के बिना दिन और घण्टे नहीं अपितु कुछ मिनिट तक जीवित रहना भी कठिन है। अतः जीवन का मुख्य आधार प्राण-वायु है। वायु जितना शुद्ध और पुष्ट होगा हमारा स्वास्थ्य भी उतना ही ठीक रहेगा। क्योंकि हमारा स्वास्थ्य शुद्ध रक्त पर आधारित है। रक्त जितना शुद्ध होगा उतना ही स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। क्योंकि रक्त पूरे शरीर में घूमता

रहता है और शरीर को शक्ति प्रदान करता रहता है। शरीर में निरन्तर रक्त चलता हुआ अंगों में विद्यमान अशुद्धता को अपने साथ लेते हुए शुद्ध होने के लिये हृदय से फेफडों में शुद्ध होने के निमित्त जाता है। उधर श्वास द्वारा शुद्ध वायु फेफड़ों में आता है शुद्ध वायु से अशुद्ध रक्त साफ होता है और शुद्ध होकर पुनः शरीर में भ्रमण करने लगता है। रक्त को शुद्ध करने में जो वायु अशुद्ध हो जाता है वह नाक द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है। इस प्रकार मनुष्य प्रति क्षण प्राण वायु ग्रहण करता हैं और अशुद्ध वायु नासिका द्वारा बाहर निकालता है। इस अशुद्ध वायु को पेड़ पौधे ग्रहण करते है और मनुष्य के लिये प्राण वायु छोड़ते हैं। नासिका द्वारा जितना शुद्ध और पौष्टिक वायु श्वास द्वारा अन्दर जायेगा उतना ही रक्त शुद्ध ठीक होगा और रक्त शुद्धि के कारण मनुष्य का स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा और फेफड़ों में किसी भी प्रकार की बिमारी नहीं होगी। जितना शुद्ध और पौष्टिक वायु हमें जंगलों में पेड़ पौधों से प्राप्त होता है उससे भी अधिक सशक्त एवं प्राणप्रद वायु हवन में दी जानेवाले घृत और जड़ी बूंटी मिश्रित हवन सामग्री के द्वारा प्राप्त होता है।

इस विषय में डा. फुन्दनलाल एम. डी. ने अपनी "यज्ञ चिकित्सा" नामक पुस्तक में अनेक परीक्षणों का वर्णन किया है। उन्होंने उस पुस्तक के १९३ वे पृष्ठ पर लिखा है "कांच की १२ शीशियाँ ली गईं और वैज्ञानिक रीति से उन्हें नितान्त शुद्ध कर लिया गया तथा उनके कृमि इत्यादि सब निकाल दिये गये। उसके पश्चात् दो शीशियों में दूध मांस इत्यादि ६ वस्तुएं भरी गई। अब ६ शीशियों को एक ओर तथा ६ शीशियों को दूसरी ओर रख दिया गया। उनमें से एक ओर वाली शीशियों में हवन गैस पहुँचाई गयी और दूसरी ओर की शीशियों में उद्यान की शुद्ध वायु भर दी गयी। शीशियाँ बन्द करके रख दी गयीं और नित्यप्रति उनका निरीक्षण करते रहे। परिणाम यह निकला कि जिन शीशियों में उद्यान की वायु थी उनमें सड़ांद शीघ्र प्रारम्भ हुई और शीघ्रता पूर्वक बढ़ गयी। इसके

विपरीत जिन शीशियों में हवन-गैस पहुँचायी गयी थी उनमें स
देर से प्रारम्भ हुई और शनैः शनैः बढ़ती रही । जिसका मतलब
है कि हवन गैस ओषजन युक्त उद्यान की शुद्ध वायु से भी
अधिक सशक्त है तथा सड़ांद को शीघ्र रोकती है । जब कि
परीक्षण हवन की साधारण सामग्री से किया गया था । यदि क्षयना
विशेष सामग्री बनायी जाय तो उसका प्रभाव अधिक पड़ेगा । साथ
यह परीक्षण यह भी सिद्ध करता है कि जो लोग नित्य प्रति हवन
हैं उनके शरीर में इस प्रकार के रोग उत्पन्न ही नहीं हो सकते हैं
में किसी भीतरी स्थान में पीप उत्पन्न हो और यदि कहीं उत्पन्न हो
नित्य प्रति हवन गैस पहुंचाने से मवाद तुरन्त सूख जायगा और
(घाव) अच्छा हो जायेगा ।" ये परीक्षण आधुनिक चिकित्सा प
एलोपैथिक से पढ़े हुए एक डाक्टर ने किये हैं जिसने हवन
उपयोगिता और महत्व पर तर्क और परीक्षण पूर्वक विचार प्र
किये हों ।

हवन में चार प्रकार के पदार्थ डाले जाते हैं जिससे वाता
शुद्ध और पवित्र होता है जो हमारे स्वास्थ्य के लिये बहुत
आवश्यक होता है । ये पदार्थ इस प्रकार हैं ।

१) रोगनाशक - सोमलता, गिलोय आदि
२) पौष्टिक - घी-दूध-फल-मेवादि
३) सुगन्ध वर्धक - केशर-कस्तूरी-चन्दन-अगर तगर-तुलसी-जावित्री-इलायची-जटामांसी, कपूरकचरी गुग्गुल, नगरमो दाल-चीनी आदि
४) मधुर पदार्थ - शहद-गुड-किशमिश-छुआरा आदि

इनके अतिरिक्त-आम-बरगद-पीपल-पलाश देवदारु चन्दन-
आदि की समिधाएं इसमें प्रयोग की जाती है । हवन करते समय
सब पदार्थ अग्नि में डाले जाते हैं । अग्नि में डालने से इनकी श
हजारों गुणा बढ़ जाती है । अग्नि की सबसे अधिक विशेषता य
कि वह पदार्थ को विस्तृत क्षेत्र में अधिक गुणयुक्त करके फैला

। अर्थात् वह पदार्थ, परिणाम (Quantity) और गुण (Quality) दोनों दृष्टि से अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं। यदि कोई मनुष्य एक छोटी लाल मीर्च को हाथ में रखे तो उससे उसको कुछ नहीं होगा। यदि उसी मार्च को इमामदस्ते में कूटने लगे तो उसे खांसी और छींके आने लगेंगी और यदि उसी मीर्च को अग्नि में डालने से उसकी शक्ति हजारों गुणा बढ़ गयी। अग्नि पदार्थ को सूक्ष्म करती है और वह सूक्ष्म पदार्थ सब ओर अपना प्रभाव करने लगता है। स्थूल से सूक्ष्म में अधिक शक्ति होती है - और अग्नि में डालने से पदार्थ सूक्ष्म होकर अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं। जिससे ये दुर्गन्ध को दूर करने, रोग के कीटाणुओं को नाश करने और वातावरण को सुगन्धित और पौष्टिक बनाने में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। इस दृष्टि से हवन की अनिवार्यता भारतीय संस्कृति में बतायी गयी है।

अग्नि में डाला हुआ पदार्थ नष्ट नहीं होता है, इस विषय में महर्षि दयानन्द ने किसी के प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है कि "जो तुम पदार्थ विद्या को जानते तो कभी ऐसी बात न कहते क्योंकि (अग्नि में डाले हुए) किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता, देखो, जहां होम होता है वहां से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है। इतने से ही समझा लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होकर फैल कर वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।" केशर कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों को घर में रखने से भी दुर्गन्ध को दूर करने का प्रयोजन सिद्ध हो सकता है इस विषय में ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि "कस्तूरी सुगन्धित पुष्प और इतर आदि सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकाल कर पवित्र वायु प्रवेश करा सके क्योंकि उसमें भेदक शक्ति नहीं है और अग्नि का ही सामर्थ्य है कि वह उस वायु और दुर्गन्ध युक्त पदार्थों को छिन्न भिन्न और हल्का करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु को प्रवेश करा देता है"। इस विषय में वैज्ञानिकों ने अनेक परीक्षण भी किये हैं जो सफल रहे हैं। श्री पं. आत्मारामजी अमृतसरी

ने संस्कार चन्द्रिका में लिखा है कि "जब मद्रास में प्लेग फैल था तब डा. किंग आई, एम. एस. ने हिन्दू विद्यार्थियों को उपदे दिया था कि यदि तुम घी और केसर से हवन करो तो महाम (प्लेग) का नाश हो सकता है" इसी विषय में आगे लिखते हैं "घी का अपूर्व गुण यह है कि यह विषनाशक पदार्थ है । इ अतिरिक्त यह अग्नि प्रदीप्त करता है । दूध-बादाम-केला-नासप सेव-नारियल आदि पुष्टि कारक वस्तुएं हैं इनके जलाने से इन के वायु में फैल कर जहां अनेक रोगों को दूर करते हैं वहां पुष्टि भी क हैं" । हवन के द्वारा चिकित्सा करने का प्रचार विदेशों में बहुत प्रचलित हो रहा है 'अगस्त १९८३' के परोपकारी नामक पत्रिका श्री बनारसीलाल ने लिखा है कि "भोपाल (म.प्र.) के लगभग किलोमीटर दूर उपनगर 'बेरागढ़' के समीप स्थित माधव आश्रम अग्नि होत्र प्रचार के वार्षिक सम्मेलन के एक अमेरिकी मनोवैज्ञा महिला 'पेट्रिसिया हेमिल्टन' आयी । उसने बताया कि अमेरिका होम द्वारा चिकित्सा की विधि बहुत प्रसिद्ध हो रही है । होम का प्र चिल्ली और पोलैण्ड में भी हो रहा है । अमेरिका की राज वाशिंगटन में "अग्निहोत्र विश्वविद्यालय" की स्थापना हो चुकी है और 'बाल्टी-मोर' में तो चार सितम्बर १९७८ से अखण्ड अग्नि (हवन) हो रहा है । अग्नि - होत्र की भस्म से पश्चिम जर्मनी की कम्पनी ने दवाइयाँ बनायी हैं जिनसे बिना किसी दुष्प्रभाव के सिर जुकाम-दाद-दस्त-पेट की बिमारियाँ, पुराने जख्म व आंखों बिमारियाँ दूर हो जाती हैं । हवन के द्वारा रोग के कीटाणुओं का न वायु की शुद्धि तथा इसके द्वारा वर्षा की कमी को भी दूर किया सकता है । इस विषय में पं. आत्माराम अमृतसरी ने अपने "संस्कार चन्द्रिका" में लिखा है कि "घी के अणु पानी बरसा अपूर्व साधन हैं । पानी और घी दो ऐसे पदार्थ हैं जो सर्दी में जाते हैं और गर्मी में पिघल जाते है । जिस सर्दी में पानी नहीं ज उसमें घी जम जाता है । हवन में जब घी के अणु सूक्ष्म होकर

चढ़ते हैं तो वायु में डोलने वाले बादलों के तल के पास पहुँच कर स्वयं जम जाने से उनको भी जमाने और बरसाने का काम देते हैं। पश्चिमीय सांयासदां कहते हैं कि बादलों के नीचे भाग अर्थात् तल में यदि कृत्रिम रीति से सर्दी पहुँचायी जा सके तो बादल बरस सकते हैं''। इस विषय में डा. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार लिखते हैं कि - ''इसका अभिप्राय यह हुआ कि घी के परमाणु जब आसमान में चढ़कर बादलों के तले में पहुँचते हैं तब वहां ठण्ड के कारण वे जम जाते हैं। घी के परमाणुओं के जमने के कारण उनके साथ सम्पर्क में आनेवाले बादलों के वाष्प के कण भी घी के ठण्डे परमाणुओं की वजह से भाप का पानी बन ज़ाते हैं बरस पड़ते हैं। आसमान में हर समय भाप के रूप में पानी रहता है, यज्ञ (हवन) द्वारा आसमान में चढ़नेवाले घी के परमाणु वहां ठण्ड होने के कारण जम जाते हैं और साथ में लगी हुई सारी वाष्प को भी ठण्डा कर देते हैं। वाष्प के ठण्डा होने का अर्थ है पानी का बरस पड़ना, इस प्रकार हवन वर्षा लाने में सहायक है।''

इन सब कारणों से यज्ञ की महत्ता को ध्यान में रखते हुए ऋषि मुनियों ने इसे हमारे जीवन का आवश्यक और अनिवार्य अंग बनाया। इसे प्रतिदिन करना अनिवार्य बताया गया। गीता में तो यहां तक लिखा है कि विना यज्ञ किये हुए जो व्यक्ति भोजन करता है वह भोजन नहीं पाप खाता है। प्रत्येक संस्कार के प्रारम्भ में यज्ञ होता है अर्थात् यज्ञ के बिना कोई भी शुभ कर्म भारतीय संस्कृति में नहीं हो सकता है। यह परम्परा भी यज्ञ (हवन) के महत्व को दर्शाती है। जिन लोगों ने हवन को इस रूप में स्वीकार नहीं किया, वे भी लोबान, धूप बत्ती - अगरबती आदि जलाते हैं, जिनसे वातावरण सुगन्धित होता है। ये सब यज्ञ-हवन के ही परिवर्तित या विकृत रूप हैं।

अग्निहोत्र (हवन) के विषय में यह आक्षेप किया जाता है कि समिधा (लकड़ी) के जलाने से ''कार्बन डाय ऑक्साइड गैस'' बनती है जो स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि

लकड़ी जलाने से कार्बनडायआक्साइड' गैस पैदा होता है। बिना लकड़ियाँ जलाये रोगनाशक औषधियों का सूक्ष्मीकरण नहीं हो सकता है। क्योंकि अग्नि में जलाने से ही पदार्थ सूक्ष्म है और शक्ति बढ़ती है और ऐसा करने में हानिकारक गैस बन है। इसका एक ही उपाय है, कि हवन सामग्री में इतनी रोगनाश औषधियां डाली जायं कि 'कार्बनडायआक्साइड' गैस का प्रभ कम रहे जिससे वह कम हानिकारक हो। इस दृष्टि से हवन साम में कस्तूरी-केसर-अगर-तगर-चन्दन-इलायची-जायफल जावित्री, तुल कपूरकचरी, गुग्गुलादि पदार्थ डाले जाते हैं। वैं "कार्बनडायआक्साइड" भोजन पकाते समय रसोई घर में बनती है तो क्या खाना पकाना बन्द कर दिया जाता है अथ रसोईघर में काम करते करते व्यक्ति इस गैस के प्रभाव से मर नहीं जाता है। तब क्यों भोजन पकाने पर कोई आक्षेप न करके पर ही क्यों आक्षेप करता है? फिर यह गैस वृक्षों और वनस्पति का आहार है इस गैस को ग्रहण करके वृक्ष हमें ऑक्सीजन ओजोन प्रदान करते हैं। वृक्ष लगाये जा रहे हैं और वन महोत्स मनाये जा रहे हैं तो इनके आहार के निमित्त यह गैस कार्य आयेगी। अतः यह कार्बनडायआक्साइड गैस इतनी हानिका नहीं है जितनी उसे समझा जाता है। उसके उपयोग करने तरीका बदला जा सकता है जिससे उसका हानिकारक प्रभाव किया जा सकता है।

जब तक इस देश में यज्ञ नियमित रूप से होते रहे तब यहां पर वर्षा समय पर होती थी। यज्ञ न होने के कारण अति और अनावृष्टि इन दोनों ही सन्तापों से आज व्यक्ति दुःखी परेशान हैं। कहीं पर वर्षा इतनी अधिक (अतिवृष्टि) हो रही है बाढ़ से फसलें नष्ट हो रही है, गांव उजड़ रहे है, शहर वीरान रहे हैं और कहीं कहीं पर अनावृष्टि (वर्षा के न होने) से व्यं दुःखी और परेशान हो रहे हैं। जब प्रत्येक गृहस्थ नियमित रूप

दैनिक यज्ञ करते थे तब अतिवृष्टि और अनावृष्टि दोनों ही सन्तापों से व्यक्ति दु:खी नहीं रहते थे। यज्ञ करने से समय पर और आवश्यकता के अनुसार वर्षा होती थी जैसा कि वेद में लिखा है कि जब जब हम इच्छा करें तब तब बादल वर्षा करें।[१]

वेद के प्रमाण से स्पष्ट होता है कि यज्ञ से वर्षा अनुकूल मात्रा में, आवश्यकता के समय होती थी जिससे पानी के विशाल भण्डार रहने के कारण किसान पर्याप्त मात्रा में अनाज खेती के माध्यम से प्राप्त करता था जिससे खाद्यान्न की कोई कमी कभी नहीं रहती थी। गीता में भी यज्ञ के विषय में लिखा है। अन्न से मनुष्यों का भरण पोषण एवं पालन होता है। अन्न, वर्षा होने के कारण पानी की पर्याप्त मात्रा होने के कारण प्राप्त होता है। वर्षा यज्ञ से होती है। इसलिये यज्ञ कर्म मनुष्य को करना चाहिये।[२] देश हराभरा और सम्पन्न यज्ञ के द्वारा होता है।

इसी विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि "जो वायु सुगन्धादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होम द्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टि जल को शुद्ध कर देता है और इससे वृष्टि भी अधिक होती है। क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है। शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्नादि औषधि भी शुद्ध होती है।"[३] अर्थात् हवन से वर्षा होती है वर्षा के जल की शुद्धि भी हवन से होती है। इसी विषय में ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि "जब होम से वायु और औषधी आदि शुद्ध होते हैं तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होने से सबको दु:ख होता है। इससे इनकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिये।" यज्ञ को विश्व का केन्द्र[४] विश्व को धारण करने वाला (विश्वधा) तथा सारे संसार का जीवन (विश्वायु:) कहा गया है। यज्ञ

---

१. *निकामे निकामे न:पर्जन्यो वर्षतु---- (यजु. २२-२२)*
२. *अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न संभव: ।*
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञ: कर्म समुद्भव: ॥ (गीता ३-१४)
३. *ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (वेद विषय विचार)*
४. *अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि: (वेद)*

की विशेषता के कारण ही इन नामों से यज्ञ को सम्बोधित किया जा
है ।

यज्ञ की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है कि "अग्निहोत्र
वायु वृष्टि और जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्र
होना अर्थात् शुद्ध वायु का श्वास स्पर्श खान-पान से आरोग्य बु
बल पराक्रम बढ़ के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान
होना इस लिये इसे देवयज्ञ कहते हैं ।"[1]

यज्ञ कर्तव्य की दृष्टि से मनुष्य को करना चाहिये । जब मनु
यज्ञ को अपना कर्तव्य समझकर तथा शास्त्रों में लिखी हुई विधि
अनुसार करता है तथा मन को एकाग्र करके यज्ञ करता है उस यज्ञ
सात्विक यज्ञ कहते हैं ।[2] जो यज्ञ किसी किसी फल, स्वार्थ,
दीखाने के लिये किया जाता है उसे राजसिक यज्ञ तथा जो यज्ञ शा
विधि को छोड़कर, विना मन्त्रोच्चारण के तथा विना श्रद्धा के कि
जाता है उसे तामसिक यज्ञ कहते हैं ।[3] इस प्रकार यज्ञ के सात्वि
राजसिक और तामसिक भेद बताये गये हैं ।

हवन के महत्व और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ऋ
मुनियों ने इसे धार्मिक रूप में प्रस्तुत किया । जिससे प्रत्येक शुभ
का प्रारम्भ हवन से ही होता है । यह प्रत्येक मनुष्य के लिये प्रति
करना आवश्यक है । जो व्यक्ति हवन करता है उसका जीवन कै
होना चाहिये या भाव हवन करते समय बोले जाने वाले मन्त्रों
विद्यमान हैं । जिनकी ओर ध्यान देने से मनुष्य का व्यक्तिगत जी
भी अच्छा बनता है । इस प्रकार हवन करने वाला प्रत्येक मनुष्य
मन्त्रों के अर्थों की ओर ध्यान दे तो सारा मानव समाज सद्गुणों
सम्पन्न हो जाय और संसार में सुख-शान्ति का वातावरण

१. सत्यार्थप्रकाश (तृतीय समुल्लास)
२. अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो .... सः सात्विकः ॥ (गीता १७-११)
३. अभिसन्धाय तु फलं .... यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ (१७-१२)
४. विधिहीनम् .... मन्त्रहीनमदक्षिणम् .... तामसं परिचक्षते ॥ (१७.

जायेगा। इन्हीं भावों को शास्त्रों में "स्वर्गकामो यजेत" अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला यज्ञ करे, "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" यज्ञ सबसे श्रेष्ठ कर्म है। इन वाक्यों के द्वारा व्यक्त किया गया है।

हवन का प्रारम्भ तीन आचमन के द्वारा किया जाता है। दाहिने हाथ में जल लेकर तीन बार मन्त्रोंच्चारण करके तीन बार आचमन किया जाता है। जल शान्ति का प्रतीक है। गर्मी से परेशान व्यक्ति पानी से स्नान करके शान्ति एवं शीतलता का अनुभव करता है। क्रोधित व्यक्ति को पानी पिलाया जाय तो उसका क्रोध शान्त हो जाता है। हवन के प्रारम्भ में व्यक्ति शान्त भाव से आचमन करता हुआ निश्चय करता है कि हे भगवन् मेरा उपस्तरण बिछौना अर्थात् आसन अमृत का हो और मेरा अपिधान - ओढ़ना अमृत का हो। अमृत क्या है यह तीसरे आचमन में कहता है सत्य-यश और श्री ये तीनों मेरे अमृत है अर्थात् इनको कभी नष्ट न होने दूँ।

ये तीन मेरे अमृत हैं अर्थात् मैं अपने जीवन में सत्य की रक्षा के लिये मैं प्रयत्न करता रहूँगा। सत्य मेरा अमृत है। जब तक जीवन है तब तक मैं सत्य को मरने न दूँगा अर्थात् कभी भी झूठ-छल-कपट-असत्य का व्यवहार नहीं करूँगा। हवन करने वाला व्यक्ति इस भावना के साथ हवन प्रारम्भ करता है। आज संसार में दुःख और शान्ति का कारण झूंठ और धोखेबाजी है। आज संसार में प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि मेरे साथ कोई भी झूंठ न बोले, छल कपट धोखेबाजी न करे, किन्तु दूसरों से ऐसा चाहनेवाला व्यक्ति दूसरों के साथ झूंठ, छल कपट आदि का व्यवहार करता है इस लिये संसार में अशान्ति है। हवन के द्वारा जहां भौतिक वातावरण शुद्ध और पवित्र होता है वहां हवन करने वाला अपने व्यक्तिगत जीवन के गुणों के द्वारा आध्यात्मिक वातावरण को भी शुद्ध और पवित्र करता है। जीवन का दूसरा अमृत यश है अर्थात् हवन करने वाला ऐसे कार्य करेगा जिससे इसका यश फैलेगा। कोई भी ऐसा कार्य न करेगा जिससे उसका अपयश या अकीर्ति फैले। अपकीर्ति-बदनामी-तो मरने

से भी बुरी है । अकीर्ति मरणादतिरिच्यते (गीता-२-३४) यह गीता बताया गया है । अकीर्ति-बदनामी से मनुष्य हर जगह अपमानित हो रहता है और दुःखी और परेशान भी रहता है । अपकीर्ति का का मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले बुरे कर्म है । अतः बुरे कर्मो से रहने का संकल्प करता है । जिससे बुरे कर्मों का फल ईश्वरीय व्यव के अनुसार दुःख प्राप्त होता है और संसार में अपयश बदनामी होती है । हवन के प्रारम्भ में यश ही मेरा अमृत है ऐसा निश्च करनेवाला व्यक्ति दुःख और बदनामी से अपने को बचाता है अं अपने शुभ कर्मो के द्वारा सांसारिक वातावरण को अच्छा बनाता है

तीसरा अमृत 'श्री' है । अर्थात् मैं अपने जीवन में 'श्री' सुरक्षित रखूँगा । 'श्री' का अर्थ आश्रय देना है । अर्थात् मैं जीवन अधिक से अधिक श्री धन को प्राप्त करूँगा और उस धन के द्वा दूसरों को आश्रय दूँगा । दूसरो की सहायता या सहयोग करूँगा । पास जितना भी धन होगा उसका उपयोग मैं दूसरों के सहयोग अं निर्माण में करूँगा । यदि मैं विद्या का धनी हूँ तो विद्या के द्वारा अज्ञा का अज्ञान दूर करके उसको ज्ञान का मार्ग दिखाऊँगा । यदि शरीर बल और शक्ति है तो कमजोर की सहायता करुँगा । यदि धन सम्पन्न हूँ तो निर्धन व्यक्ति की सहायता करुँगा । यह मानवीय सभ्य है । आज पशुओं की सभ्यता का साम्राज्य संसार में फैलता जा र है । बड़ी मच्छली छोटी मच्छली को खा जाती है वैसे ही धनी नि को, शक्तिशाली-कमजोर को, पढ़ा लिखा व्यक्ति अज्ञानी और मू को खा रहा है या परेशान कर रहा है उसकी अज्ञानता या निर्धनता कमजोरी का लाभ अपने स्वार्थ के लिये उठा रहा है और इनसे अ स्वार्थ पूरा कर रहा हैं। आज आवश्यकता है पशुओं की सभ्यता छोड़कर मनुष्यों की सभ्यता को स्वीकार करें अपने जीवन में स यश और श्री को सुरक्षित रखें । यह मार्ग हमें हवन के द्वारा प्राप्त सकता है ।

पंचमहायज्ञ

(पितृयज्ञ - अतिथियज्ञ)

परमात्मा ने मावनमात्र के उपयोग के लिये सांसारिक पदार्थों का निर्माण करके महान् उपकार किया है। इसके लिये प्रतिदिन मनुष्य को परमात्मा के प्रति कृतज्ञता या आभार प्रकट करने के लिये ब्रह्मयज्ञ अर्थात् ईश्वर की उपासना करनी चाहिये। मनुष्य अपने शरीर के द्वारा प्रतिदिन प्राकृतिक वातावरण को दूषित करता है इसलिये दूषित वातावरण को शुद्ध करने के लिये उसे प्रतिदिन देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र (जिसे यज्ञ हवन भी कहते है) करना चाहिये।

मनुष्य के जीवन निर्माण में सबसे अधिक एवं महत्व पूर्ण योगदान माता-पिता एवं गुरु का होता है। इनकी सेवा करना, इनकी आत्मा को सन्तुष्ट रखना और इनका आशीर्वाद प्राप्त करना 'पितृयज्ञ' कहलाता है। शास्त्रों में माता पिता और गुरु को देवता कहा गया है। जो मनुष्य अपने व्यवहार से इन देवताओं को खुश और प्रसन्न रखता है, इनकी सेवा करता है और इनको प्रतिदिन अभिवादन अर्थात् प्रणाम करके इनका आशीर्वाद प्राप्त करता है उसको आयु-विद्या-यश और बल प्राप्त होता है ऐसा मनुस्मृति में लिखा हुआ हैं[१]। अभिवादन अर्थात् मनुस्मृति के अनुसार जो मनुष्य माता पिता और गुरु जनों का सम्मान सत्कार और सेवा नहीं करता है और उनकी आत्मा को अपने व्यवहार से सन्तुष्ट नहीं रखता है और उनकी आत्मा को अपने व्यवहार से सन्तुष्ट नहीं रखता है तथा उनको प्रणाम करके उनका आशीर्वाद नहीं प्राप्त करता है उसको आयु-विद्या-यश और बल नहीं प्राप्त होते हैं।

'पितृयज्ञ' के लिये श्राद्ध और तर्पण शब्द का प्रयोग शास्त्रों में

---

१. *अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।*
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ॥ मनु.

हुआ है । श्रद्धया यत् क्रियते तत् श्राद्धम्'' अर्थात् श्रद्धा से जो मा
पिता की सेवा की जाती है उसे श्राद्ध कहते हैं । तर्पण का अर्थ क
हुए लिखा है ''तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितृन् तत् तर्पणम्'' अर्थ
जिस जिस सेवादि कर्म से माता पिता आदि जन प्रसन्न हो वह त
कहलाता है । इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रक
में लिखा है कि पितृयज्ञ अर्थात् जिसमें देव जो विद्वान्, ऋषि
पढ़ने पढ़ाने हारे, पितर जो माता पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और प
योगियों की सेवा करनी ।

पितृयज्ञ के दो भेद हैं एक श्राद्ध दूसरा तर्पण । श्राद्ध अर्थात् श्
सत्य का नाम है ''श्रत् सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा श्रद्धया य
क्रियते तत् श्राद्धम्'' जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय उस
श्रद्धा और जो श्रद्धा से कर्म किया जाय उसका नाम श्राद्ध है अ
''तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितृन् तत् तर्पणम्'' जिस जिस कर्म से तृ
अर्थात् विद्यमान माता पितादि पितर प्रसन्न हो और प्रसन्न किये जा
उसका नाम तर्पण है परन्तु यह जीवितों के लिये हैं मृतकों के लि
नहीं ।'' ''माता-पिता-पितामह'' पितामही, प्रपितामह-प्रपितामह
अन्य कोई भद्रपुरुष वा वृद्ध हों उन सबको अत्यन्त श्रद्धा से उत्त
अन्न, वस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त कर
अर्थात् जिस जिस कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ र
उस उस कर्म से प्रीति पूर्वक उनकी सेवा करनी, वह श्राद्ध और तर्प
कहता है ।

इसी विषय में आगे लिखा है कि पितृयज्ञ से जब माता पि
और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा तब उसका ज्ञान बढ़ेगा । उस
सत्यासत्य का निर्णय कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग कर
सुखी रहेगा । दूसरा कृतघ्नता अर्थात् जैसी सेवा माता पिता औ
आचार्य ने सन्तान और शिष्यों की की है उसका बदला देना उचि
ही है ।'' अर्थात् मातापितादि पितरों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने
उनके उपकारों का बदला कुछ अंशों में चुकाने के साथ साथ उन

ज्ञान और अनुभव का भी लाभ प्राप्त होता है।

'पितर' शब्द के साथ यह भ्रान्ति कुछ शताब्दियों से जुड़ गयी कि यह शब्द मरे हुए माता पिता-पितामहादि के लिये प्रयुक्त होता है। इसलिये पितरों का श्राद्ध करना चाहिये 'इस का मतलब यह समझा जाने लगा कि मरे हुए पितरों का श्राद्ध और तर्पण करना चाहिये। यदि मृतपितरों का श्राद्ध नहीं करेंगें तो उनकी आत्मा को कष्ट होगा वे भटकते रहेंगें और इससे हमारे परिवार में दुःख अशान्ति और नाना प्रकार की बिमारियाँ होती रहेगी। इस भय से लोग पिण्डदान करते है, श्राद्ध और तर्पण करते हैं, मृतक के नाम पर दान देते हैं। उनकी हड्डियाँ और भस्म, गंगा यमुनादि नदियों में प्रवाहित करते हैं आदि...

संस्कृत का साधारण पढ़ा लिखा व्यक्ति भी जानता है कि 'पितरः' शब्द 'पितृ' शब्द का प्रथमा विभक्ति का बहुवचन है और इसी शब्द का प्रथमा विभक्ति के एक वचन में "पिता" रूप बनता है। हिन्दी में भी पिताजी आता है या पिताजी जाता है न बोलकर पिताजी आते हैं या पिताजी जाते हैं, यह बोला जाता है। अर्थात् सम्मान को ध्यान में रखते हुए इस शब्द का प्रयोग एकवचन में न होकर बहुवचन में होता है। यही स्थिति संस्कृत में हैं, इसीलिये पिता के स्थान पर पितर शब्द श्राद्ध के प्रसंग में प्रयुक्त हुआ है। पिताजी की श्रद्धा भक्ति से सेवा अर्थात् श्राद्ध करना चाहिये इन्ही भावों को पितरों का श्राद्ध आदि शब्दों में व्यक्त किया गया है। केवल पिताजी की ही सेवा नहीं अपितु मां की भी सेवा करनी चाहिये इसलिये 'माता च पिता च' न कहकर पितर शब्द का प्रयोग किया गया। यदि परिवार में पिता जीवित हैं और पिता के पिता (पितामह) भी जीवित है तो उनकी भी सेवा श्रद्धापूर्वक करनी चाहिये और यदि पितामह के पिता अर्थात् प्रपितामह भी जीवित हैं तो उनकी भी सेवा श्रद्धापूर्वक करनी है। इस दृष्टि से तीन पीढ़ी का श्राद्ध-पिता-पितामह और प्रपितामह का होता है। क्योंकि मनुष्य अपनी आयु में अधिक से

अधिक सेवा करने योग्य चौथी पीढ़ी को देख सकता है इसलिये पीढ़ी के ही श्राद्ध का उल्लेख है और तीन को ध्यान में रखकर शब्द का एक या द्विवचन में प्रयोग न करके बहुवचन में प्रयोग है।

वेदादि शास्त्रों में पितर शब्द का प्रयोग जीवित माता-पिता लिये हुआ है। जैसे ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु (यजु. १९-४ यजुर्वेद के इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए उव्वट ने लिखा है "सत्य को जानने वाले, यज्ञ को जाननेवाले तथा स्वाध्याय में सं रहने वाले पितर हमारी रक्षा करे"[1] अर्थात् सत्य के जानने वाले, के जानने वाले और स्वाध्याय में संलग्न रहनेवाले पितर-जीवित हो सकते हैं क्योंकि जीवित व्यक्ति ही इन कर्मों को कर सकता है मृत व्यक्ति इन कर्मों को नहीं कर सकता है। यही व्याख्या मही ने अपने भाष्य में तथा सायण ने अथर्व १८-१-४४ में की है।

ऋग्वेद (१०-१४-४) में पितृभिः संविदानः अर्थात् पितरों साथ विचार करते हुए चलने का तथा संगच्छस्व पितृभिः (ऋ. १ १४-८) में पितरों के साथ साथ चलने का उपदेश दिया गया है अर्थात् मातापिता के गुणों का ग्रहण करना, उनकी आज्ञाओं का पा करना आदि उपदेश वेद में दिया गया है। अनुव्रतः पितुः पुत्रः (अथर्व ३.३०.२) पुत्र पिता के व्रतों का अनुसरण करें। यह प्रक भी स्पष्ट करता है पितर जीवित ही होते हैं मरे हुए नहीं होते हैं

यजुर्वेद (१६-१५) में भी पितरों के विषय में लिखा है कि ह पितरों अर्थात् माता और पिता को मत मारो[2] इस प्रार्थना से भी होता है यह प्रार्थना भी जीवित पितरों के लिये ही हो सकती है कि मरे हुए के लिये तो न मारने की प्रार्थना तो पुनः हो नहीं सक है। क्योंकि वह तो पहले से ही मर गये हैं पुनः उनके न मारने

१. ऋतज्ञाः सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा स्वाध्यायनिष्ठा वा ...... (यजु. १९-४९ उव्वट भा
२. मा नो वधीः पितरं मोतमातरम् । (यजु. १६-१५)

प्रार्थना कैसे हो सकती है, अतः स्पष्ट है कि 'पितर' शब्द जीवित माता पिता के लिये ही आता है और जीवित माता पिता के जीवन की सुरक्षा करने के लिये ही यह प्रार्थना वेद में की गयी है।

मनुस्मृति और शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों तथा गीता-पुराणादि ग्रन्थों भी पितर शब्द जीवित माता-पितादि के लिये आता है, मरे हुए माता-पितादि के लिये नहीं आता है। मनु ने लिखा है कि-क्रोध रहित-भीतर-बाहर से सदा शुद्ध रहनेवाले अपनी ही स्त्री के साथ ऋतुकाल में ही गमन करने वाले गृहस्थ, शस्त्रास्त्रों का त्याग करने वाला, धर्मात्मा दिव्यगुणों से युक्त मनुष्य 'पितर' होते हैं।[१] वसु ब्रह्मचारियों को मनु ने पितर लिखा है।[२] अज्ञानी व्यक्ति को बालक तथा ज्ञानी व्यक्ति को पिता कहते हैं।[३]

ब्राह्मण ग्रन्थों में पितरों के विषय में लिखा है कि सोम यज्ञ करने वाले पितर हैं।[४] सब मनुष्य पितर होसकते हैं।[५] जो पाप में नहीं फंसे हुए हैं वह पितर हैं।[६] पितर अन्न तथा आदर पाने योग्य हैं।[७]

ब्रह्मवैवर्त पुराण में पितरों का वर्णन करते हुए लिखा है कि (१) अन्न देने वाला (२) भय से बचाने वाला (३) पत्नी का पिता (४) विद्या देने वाला (गुरु) (५) तथा जन्म दाता ये पांच मनुष्यों के पितर है। विद्या देने वाला और जन्म देने तथा पत्नी का पिता (श्वसुर) आदि ये सभी जीवित ही होते है, जीवित व्यक्ति ही शिक्षा दे सकता या दूसरों से रक्षा करता था। अन्नादि की व्यवस्था करता है। मृत व्यक्ति

---

१. *अक्रोधनाः शौचपरा सततं ब्रह्मचारिणः।*
न्यस्त शस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्व देवताः॥ (मनु. ३-१९२)
२. *वसून् वदन्ति तु पितृन् .... (मनु. ३-२८४)*
३. *अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः (मनु. २-१५३)*
४. *ये वै यज्वान्ः ते पितरो बर्हिषदः (तैत्ति १-६-९-६)*
५. *मर्त्याः पितरः (शत २-१-३-४)*
६. *अनपहत पाप्मानः पितरः (शत २-१-३-४)*
७. *पितरो नमस्याः (शत १-५-२-३)*
८. *अन्नदाता भयत्राता पत्नीतातस्तथैव च।*
विद्यादाता जन्मदाता पंचैते पितरो नृणाम्॥ (ब्रह्मवै ब्रह्म. अ. १-१४३)

इन कार्यों को नहीं कर सकता है। इसलिये 'पितर' शब्द जीवितों लिये ही आता है। कहीं पर भी 'पितर' शब्द का विशेषण मृतक प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद (२५/२२) में मन्त्र-शतमिन्नु शरदो अं देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति....। आ है। इस मन्त्र में 'पितर' शब्द का प्रयोग हुआ हैं। पिता भगवान् प्रार्थना कर रहा है कि हे भगवन्। मुझे इतनी आयु देना कि मेरे सा मेरे पुत्र पितर बन जाय। अर्थात् मेरे पुत्रों के भी पुत्र हो जाय, वे पिता बन जायं। इसी प्रकार का अर्थ उव्वट महीधर आदि भाष्यक ने किया है उन्होंने लिखा है कि हमारे पुत्र पुत्रवाले हो जायं, अर्थ हमारे पौत्र हो जायं। यदि यहां पर पितर शब्द मृतक मरे हुए के लि किया होता तो मन्त्र का अर्थ होगा, पिता भगवान् से प्रार्थना कर है कि हे भगवन! मेरे पुत्र पितर अर्थात् मेरे सामने मर जायं इत आयु मुझे प्रदान कर। ऐसी भयानक अनर्थकारी प्रार्थना क्या के पिता अपने पुत्र के लिये कर सकता है। क्या ऐसी विनाशक प्रार्थना वेद में हो सकती है ? इस प्रार्थना को कोई भी मानने तैय्यार नहीं होगा। अतः वेदमन्त्र द्वारा स्पष्ट हो रहा है कि 'पित शब्द तो जीवित के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। मरे हुए के लिये न तथा सभी वेद भाष्यकारों ने यही स्वीकार किया हैं। गीता में 'पितर' शब्द जीवित के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। जब महाभारत युद्ध होने वाला था और कौरवों और पाण्डवों की सेनाएं आम सामने खड़ी थी तब श्रीकृष्ण अर्जुन के रथ को दोनों सेनाओं के बी में ले जाते हैं। वहां अर्जुन ने किस किस को देखा यह वर्णन कि गया है। जो इस प्रकार है —

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान् मतुलान् भ्रातृन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा॥ (गीता १-२

अर्थात् वहां पर अर्जुन ने. पितरों को पितामह को आचार्य मामा को पुत्र और पौत्रों तथा मित्रों को देखा। इसी प्रसंग में उस श्रीकृष्ण से निवेदन किया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा क्योंकि युद्ध

मैदान में लड़ने के लिये ये लोग खड़े हैं। कौन खड़े हैं उनका वर्णन अर्जुन स्वयं करता है —

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा । (गीता १-३५)

अर्थात् आचार्य-पितर लड़के और पितामह तथा मामा ससुर पौत्र, साले और सम्बन्धी लोग खड़े हैं।

इन दोनों ही श्लोकों में 'पितर' शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्जुन ने पितरों को देखा और पितरों के साथ अन्य लोगों पितामहादि को भी देखा है। यहां स्पष्ट है कि देखना जीवितों का ही है। मरे हुए का इन आंखों देखना असंभव है। और इतना ही नहीं वह स्वयं वर्णन भी कर रहा है कि युद्ध में पितामह पुत्र पौत्र और पितर आदि खड़ें है। जीवित व्यक्ति ही खड़े रह सकते है अतः स्पष्ट है कि पितर शब्द जीवित के लिये ही प्रयुक्त होता रहा है।

पिता और पुत्र का सम्बन्ध भी जीवित के साथ ही होता है। क्योंकि मरने के पश्चात् जीवात्मा कहां जाता है कछ भी पता उसके परिवार वालों को नहीं रहता है और न वह सूचना देता है कि मैं इस योनि (शरीर) में हूं। इस जगह पर हूँ और न ही वह पिछले परिवार के सदस्यों की पुनः आकर खबर करता है। यदि करता है तो हम सब भी इस समय इस शरीर में जीवित हैं। क्या हमको पता है कि हमारा पिछला जन्म किसके घर में या कहां था, हमारे पिछले परिवार में कौन सदस्य हैं, वे इस समय क्या कर रहे हैं? कौन दुःखी या सुखी है? हमारे तर्पण के लिये कौन श्राद्ध कर रहा है या नहीं आदि.... जब हम को कुछ पता नहीं तो जो यहां से जाता है उसको क्या पता होगा। या उसके नाम पर किया जाने वाला मृतक श्राद्ध-तर्पण या पिण्डदान का उस पर क्या प्रभाव पड़ता होगा। जब किसी के माता पिता बम्बई से दिल्ली कुछ दिन के लिये चले जायं और उनका पुत्र अपने माता पिता की तृप्ति और खुशी के लिये किसी को खाना खिलाये, कपड़ा देवे तो दिल्ली में बैठे हुए माता पिता को उसका कुछ भी पता नहीं

लगेगा। जब दिल्ली में बैठे हुए माता पिता के नाम पर श्राद्ध पिण्डदान करने पर उनको कुछ पता नहीं लगता तो दूसरे शरीर जाने पर क्या पता लगेगा। उनकी आत्मा हो तभी खुश और प्रसन्न रहेगी, जब उनके बम्बई में ही रहते हुए बम्बई वासी पुत्र उनकी सेवा करें आज्ञा का पालन करें। इसे ही श्राद्ध का तर्पण या पितृयज्ञ कहते हैं

चन्द्रमा पन्द्रह दिन तक धीरे धीरे बढ़ता जाता है और पूर्णिमा को पूरा दिखलाई देता है और पूर्णिमा के बाद चन्द्रमा धीरे धीरे क्षीण होने लगता है और अमावस्या को आंखों से ओझल हो जाता है अर्थात् नहीं दिखाई देता है। जो चन्द्रमा पूर्णिमा को पूरा दिखाई दे रहा था वही चन्द्रमा अमावस्या को बिल्कुल दिखाई नहीं देता है। जिन १५ दिनों में चन्द्रमा धीरे धीरे बढ़ता है उसे शुक्ल पक्ष और जिन १५ दिनों में चन्द्रमा धीरे धीरे घटता है उसे कृष्ण पक्ष कहते हैं। इस प्रकार जब दिन बड़े होते हैं, रात्री छोटी होती हैं या प्रकाश अधिक और अन्धेरा कम होता है अर्थात् ६ महिने तक जब सूर्य पूर्व दिशा में उत्तर की ओर बढ़ता है उसे उत्तरायण काल तथा जब दिन छोटे और रात बड़ी होती हैं अर्थात् ६ महीने तक सूर्य पूर्व दिशा में दक्षिण की ओर बढ़ता है उसे दक्षिणायन काल कहते हैं। ये दो प्रकार के मार्ग उपनिषदों में देवयान और पितृयान के नाम से प्रसिद्ध है।

मनुष्य शरीर का भी यही क्रम है। जन्म होने के बाद मानव शरीर चन्द्रमा के समान धीरे धीरे बढ़ता जाता है और एक दिन पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान पूर्ण यौवनकाल अर्थात् जवानी को प्राप्त करता है। यह इसका देवपक्ष या शुक्लपक्ष है। पूर्णिमा के बाद चन्द्रमा धीरे धीरे घटता जाता है और अमावस्या के दिन दिखाई नहीं देता है। ठीक इसी प्रकार जवानी के बाद मनुष्य के शरीर में कृष्ण पक्ष प्रारम्भ होता है अर्थात् धीरे धीरे मानव शरीर क्षीण होने लगता है। दांत गिरने लगते हैं बाल सफेद होने लगते हैं, शरीर कांपने लगता है, आंखों से दिखाई देना और कानों सुनाई देना कम होने लगता है यही मनुष्य जीवन का पितृ पक्ष या कृष्णपक्ष है और एक दिन मनुष्य

अमावस्या के चन्द्रमा के समान इस संसार से चल देता है अर्थात् उसका जीवन समाप्त हो जाता है।

पितरों के श्राद्ध का उल्लेख शास्त्रकारों ने किया है वह इसी दृष्टि से किया है कि उन पितरों या वृद्धों को सेवा की आवश्यकता होती है। जब बच्चा छोटा होता है तब वह चल नहीं सकता तो माता-पिता उसका हाथ पकड़ कर चलाते हैं जब वह अपने हाथ से खाना नहीं खा सकता तो माता पिता उसे अपने हाथ से खाना खिलाते हैं। जब वह स्नान नहीं कर सकता तो उसे माता पिता स्नान कराते या उसके कपड़े धोते हैं। वही बच्चा जब जवान हो जाता है और उसके माता पिता वृद्ध हो जाते हैं तब उसके लिये आवश्यक है कि वह माता पिता को बड़ी श्रद्धा से खाना खिलाये, उनको स्नान करावे, उनके कपड़े धोवे आदि, यह सब वह माता पिता पर कृपा करके नहीं करता है अपितु श्रद्धा भाव से करता है क्योंकि जब वह अपने हाथों से खा नहीं सकता था, स्नान नहीं कर सकता था तब माता पिता ने उसे खिलाया, स्नान कराया, माता पिता के द्वारा किये हुए उपकारों को स्वीकार करता हुआ उनकी उसी प्रकार की सेवा वह करता है क्योंकि अब वे वृद्ध हैं इसलिये वृद्ध माता पिता पितामहादि पितरों की बहुत ही श्रद्धा से सेवा करनी चाहिये इसे ही श्राद्ध कहते हैं। इस सेवा से इनकी आत्मा तृप्त रहती है प्रसन्न होती है इसलिये इसे तर्पण भी कहते है और यही श्राद्ध और तर्पण या पितृ यज्ञ कहलाता है। जब श्राद्ध या तर्पण को मिथ्यारूप में यह समझने लगे कि यह मरे हुए का होता है जीवितों का नहीं तो उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि जब माता पिता जीवित रहते हैं तब मनुष्य उनसे लड़ाई झगड़ा करता है और मरने पर उनकी हड्डियाँ और राख को हरिद्वार गंगा में डालने के लिये ले जाता है। इस पर व्यंग करते हुए किसी ने लिखा है —

जीवित पिता से दंगम् दंगा मरे पिता पहुचाये गंगा।

आज मनुष्य अपने बुढ़ापे को सुरक्षित रखने के लिये बैंक या पोस्ट आफिस में पैसा जमा (फिक्स डिपाजिट) करता है। जिससे

वृद्धावस्था में किसी प्रकार का कष्ट न रहे। हमारे ऋषि मुनियों ने बुढ़ापे को सुरक्षित रखने के लिये ही श्राद्ध का विधान किया है और लिखा है कि जिस घर में पितरों का अर्थात् माता पिता आदि वृद्ध जनों का श्राद्ध अर्थात् सेवा नहीं होती है उस घर में सुख शान्ति नहीं रहती है। माता पिता के आशीर्वाद से सब कुछ प्राप्त होता है। जो मनुष्य अपने माता पिता की आत्मा को कष्ट पहुंचाता है। उनकी सेवा नहीं करता या उनको दुःख देता है वह जीवन में तबाह हो जाता है। उसके परिवार में सुख शान्ति नहीं रह सकती है। क्योंकि वह कृतघ्न है, उसने उपकार करनेवालों का उपकार नहीं माना और उनके किये हुए उपकारों के बदले में उनकी सेवा नहीं की है। यह संसार तो एक लेन देन की मण्डी (बाजार) है। यहाँ तो इस हाथ देना और उस हाथ लेना है। जिस व्यक्ति ने अपने माता पिता की सेवा नहीं की तो जब वह वृद्ध होगा तब उसकी सन्तान भी उसकी सेवा नहीं करेगी। इसलिये बुढ़ापे में अपनी सन्तान से सेवा कराने के लिये भी मनुष्य को अपने वृद्ध माता पिता की सेवा बहुत ही श्रद्धा भक्ति से करनी चाहिये। यही बुढ़ापे को सुखी और सुरक्षित रखने का उचित मार्ग है।

जब से जीवित माता पिता की सेवा के स्थान पर मरे हुए पितरों के नाम पर श्राद्ध की परम्परा चली तभी से लोगों ने इसका विरोध भी किया है। इसलिये मरे हुए के नाम पर जो व्यक्ति पैसे लेते रहे हैं या उनका पिण्ड दानादि कराते रहे हैं, ब्राह्मणों ने उनको समाज (जाति) से बहिष्कृत कर दिया। उनके साथ खाना पीना, उठना बैठना बन्द कर दिया, उन को आज भी पूर्वी उत्तर प्रदेश या बिहार में महापात्र या महाब्राह्मण कहते हैं। कहीं आचार्य ब्राह्मण या कटिया भी कहते हैं। वे लोग केवल मृतक पुरुष की क्रिया ही कराते हैं। वे विवाह या अन्य संस्कार आदि आज भी नहीं करा सकते हैं। यह बहिष्कार ही इस बात का प्रमाण है कि मृतक श्राद्ध और पिण्डदान की परम्परा अवैदिक एवं मध्यकालीन है। व्यवहारिक, धार्मिक और शास्त्रीय दृष्टि से जीवित माता पिता की श्रद्धापूर्वक सेवा करना ही

श्राद्ध तर्पण या पितृयज्ञ है जो प्रतिदिन मनुष्य को करना चाहिये ।

बलिवैश्वदेवयज्ञ - सभी प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है इसलिये इसके कुछ उत्तरदायित्व भी अन्य प्राणियों के प्रति है, यह इस चतुर्थ महायज्ञ में बताया गया है । गाय बैल बकरी आदि प्राणियों की रक्षा करना तथा उनके खाने पीने की व्यवस्था करना बलिवैश्वदेवयज्ञ कहाता है ।

अतिथियज्ञ - इसके विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लिखा है कि "अतिथि उसको कहते हैं कि जिसकी कोई तिथि (आने की) निश्चित न हो अर्थात् अकस्मात् धार्मिक सत्योपदेशक, सब के उपकारार्थ सर्वत्र घूमनेवाला पूर्ण विद्वान् परमयोगी, संन्यासी, गृहस्थ के यहां आवे तो उसको जल देकर पश्चात् आसन पर सत्कार पूर्वक बिठला कर खान पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा शुश्रूषा करके उनको प्रसन्न करे । पश्चात् सत्संग कर उनसे ज्ञान विज्ञान आदि जिनसे धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे ऐसे उपदेशों का श्रवण करें । और अपने चाल चलन भी उनके सदुपदेशानुसार रखे ।"

अतिथि यज्ञ की आवश्यकता और महत्ता का वर्णन करते हुए ऋषि ने लिखा है कि "जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते तब तक उन्नति भी नहीं होती । उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्य में एक ही धर्म स्थिर रहता है विना अतिथियों के सन्देह निवृत्ति नहीं होती । सन्देह निवृत्ति के विना दृढ़ निश्चिय भी नहीं होता । निश्चय के विना सुख कहां ।"

सच्चे एवं आदर्श अतिथि से गृहस्थ के जीवन में सुख और ऐश्वर्य प्राप्त होता है इसलिये अतिथि यज्ञ गृहस्थ व्यक्ति को अवश्य करना चाहिये । किन्तु अतिथि कैसा होना चाहिये, अतिथि के नाम पर किसी पाखण्डी के वश में होकर अपनी हानि न कर डाले यह भी स्पष्ट किया है । इसलिये योग्य विद्वान्-संन्यासी महात्मा के स्वागत-सत्कार के स्थान पर किसी पाखण्डी का स्वागत नहीं करना चाहिये,

इसलिये पाखण्डी के लक्षणों का भी वर्णन किया है जो व्यक्ति वे निन्दक (अर्थात् वेद की निन्दा करता है) वेद विरुद्ध आचरण करने वाला वैडालवृत्ति (अर्थात् जो) अपना पेट भरने वाले हठी-दुराग्रही अभिमानी-स्वार्थी हैं ऐसों का स्वागत सत्कार वाणी मात्र से भी न करना चाहिये । क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं । आप तो अवनति के काम करते हैं परन्तु साथ में सेवक भी अविद्यारूपी महासागर में डुबा देते हैं। पाखण्डियों कि विषय में लिखा है कि जो धर्म कुछ भी न करे परन्तु धर्म के नाम से लोगों को ठगे, सदा लोभ से युक्त हो, कपटी हो, अपनी प्रशंसा स्वयं करने वाले हो, प्राणियों के हिंसक, दूसरों से बदला लेने की भावना रखने वाले, धूर्त और नीच, हठी-दुराग्रही स्वार्थी व्यक्ति पाखण्डी होते है ऐसे लोगों का कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिये ।[२]

जो लोग धार्मिक विद्वान् न होकर धार्मिक होने का ढोंग करते हैं तथा लोगों को मूर्ख बनाकर अपना स्वार्थ पूरा करते हैं ऐसे पाखण्डी लोगों से भी मनुष्य को सावधान रहना चाहिये । जिससे वे लोगों की श्रद्धा और सेवा भाव का दुरुपयोग करके उनके जीवन को विनाश की ओर न ले जायं, इसलिये अतिथि यज्ञ में अतिथि का अर्थ स्पष्ट करके पाखण्डियों के लक्षण भी ऋषि दयानन्द ने लिख कर पाखण्डियों से सावधान रहने की और आर्यों का ध्यान आकृष्ट किया है ।

अर्थात् बिना सूचना दिये घर पर आये हुए धार्मिक विद्वान् का स्वागत करके उनसे ज्ञान लाभ प्राप्त करना अतिथि यज्ञ कहलता है। ये पंचमहायज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिये प्रतिदिन करने आवश्यक बताये गये है ।

---

१. पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ (मनु. ४-३०)
२. धर्मध्वजी सदा लुब्धः .... मिथ्या विनीतश्च (मनु ४-१९५-१९६)

वर्णाश्रम व्यवस्था

मनुष्यों में हिन्दू-मुसलमान-ईसाई-सिख-जैन-बौद्धादि तथा पंजाबी-बंगाली-हिन्दुस्तानी-पाकिस्तानी आदि भेद मनुष्यों के बनाये हुए हैं । कुछ भेद स्थान और देश के कारण से बन गये हैं और कुछ भेद मान्यता-विश्वास रीति रिवाजादि के कारण बन गये हैं । ये सब भिन्नताएं जो आज पायी जाती हैं वे सब ईश्वर की बनाई हुई नहीं है । ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार सारी मनुष्य जाति एक है । शास्त्रों ने भी मनुष्य जाति को एक ही कहा है ।[१] ईश्वरीय रचना के अनुसार सभी देश और प्रान्तों में पाये जाने वाले मनुष्यों के शरीर के अंग-नाक-कान-आँख-हाथ-पैरादि में समानता है । ऐसा नहीं पाया जाता है कि किसी देश के रहनेवाले मनुष्य की दो आंखे हो और दूसरे देश के रहने वाले मनुष्य की दो के स्थान पर तीन या चार आँखें पायी जाती हैं । मनुष्य शरीर के अंगों की समानता ही यह स्पष्ट करती है कि ईश्वरीय व्यवस्था में सम्पूर्ण मानव जाति एक है । देश-धर्म-संप्रदाय-विश्वास या रीति रिवाज के अनुसार मनुष्यों में जो भेद पाये जाते हैं वे सब मनुष्यकृत हैं । ये ही भेद आगे चलकर और विस्तृत होते गये-जिसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य मनुष्य से घृणा और नफरत करने लगा । एक दूसरे को नीच या अछूत समझने लगा और अपने को श्रेष्ठ उच्च तथा आदर्श मानने लगा । मनुष्यों में अच्छे और बुरे दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं यह भेद भी इनके सद्गुण और दुर्गुणों के आधार पर बना । अच्छे लोगों को आर्य तथा दुष्ट व्यक्तियों को अनार्य या दस्यु शब्द से संबोधित किया गया है ।[२]

एक ही मनुष्य जाति अलग अलग कार्यों की दृष्टि से चार भागों में विभक्त हो गयी । जिन्हें वर्ण कहते हैं । ये वर्ण ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्र हैं । वृञ् वरणे धातु से वर्ण शब्द बनता है । गुण-कर्म और

---

१. *मानुषश्चैकविधः । सांख्यकारिका ५७ वाचस्पतिमिश्र*
२. *विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते । ऋग्वेद १-५१-८*

स्वभाव के अनुसार जिस का चयन किया जाय उसको वर्ण कहते हैं अथवा अपने स्वभाव-योग्यता और कार्य करने की क्षमता को देखकर जिसको स्वीकार किया जाता है उसे वर्ण कहते हैं । चारों वर्णों के अपने अपने कर्म हैं जो मनुष्य जिस वर्ण के कार्यों को करने के योग्य अपने को समझता है, वह उस वर्ण को स्वीकार करता है । अथवा अध्ययन की समाप्ति पर विद्यार्थी के गुण स्वभाव और कार्य करने की योग्यता और क्षमता को देखकर गुरु उसके वर्ण की घोषणा करता था। इसलिये ये वर्ण कहलाते हैं । जिस प्रकार विद्या समाप्ति पर स्नातकों को वकील-डाक्टर-इन्जीनियर आदि विषयक उपाधियाँ (Digree) दी जाती हैं उसी प्रकार ब्राह्मण-क्षत्रियादि (उपाधियाँ) वर्ण दिये जाते थे । वर्तमान युग में वकील या डाक्टर का लड़का बिना पढ़े वकील या डाक्टर नहीं बनता है ठीक इसी प्रकार प्राचीन युग में ब्राह्मण या क्षत्रिय का लड़का ब्राह्मणोचित या क्षत्रियोचित कर्म किये बिना ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं बनता था । पिता के वकील या डॉक्टर होने मात्र से यदि बिना पढ़े लिखे लड़का भी वकील या डाक्टर या इन्जीनियर बन जाय तो समाज में कैसी भयानक स्थिति होगी उसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती है । मूर्ख व्यक्ति पिता के कारण अपने आपको डॉक्टर कहकर रोगी की चिकित्सा करेगा तो उसको ठीक करने या मृत्यु से बचाने की अपेक्षा उसको मृत्यु के मुख में पहुँचा देगा इसी प्रकार योग्य इन्जीनियर का अनपढ़ लड़का अपने आपको (इन्जीनियर पिता का पुत्र होने के कारण) इन्जीनियर मानकर भवन-सड़क और पुल निर्माण करेगा तो उसका यह निर्माण प्राणीमात्र के लिये विनाशकारी ही सिद्ध होगा क्योंकि इस विषय में उसको कोई ज्ञान नहीं है । इसलिए जब तक उपरोक्त विषय का ज्ञान नहीं प्राप्त करता तब तक मनुष्य चाहे किसी का भी पुत्र हो अपने आपको वकील-डॉक्टर-इन्जीनियर नहीं कह सकता है । ठीक यही स्थिति चारों वर्णों की है । किन्तु मध्य काल में अनेक कुरीतियाँ हमारी संस्कृति में आ गयी । उनमें एक कुरीति यह भी आ गयी कि वर्णव्यवस्था कर्म

के स्थान पर जन्म के अनुसार मानी जाने लगी । जिससे अनेक दुष्परिणाम हुए । अयोग्य व्यक्ति अपने पिता की योग्यता, गुण तथा ब्राह्मणोचित कार्यों से अपने आपको भी ब्राह्मण कहने, मानने लगे । जब कि मनुस्मृति में लिखा है[1] कि यदि शूद्र पिता का पुत्र ब्राह्मणोचित गुण प्राप्त कर ले और तदनुसार कर्म करने लग जाये तो वह ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण कुलोत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मणोचित कर्म-योग्यता तथा गुणहीन हो जाय तो वह शूद्र हो जाता है । मनु की इस व्यवस्था से जो योग्यता तथा गुणों से हीन हो जाय तो वह शूद्र हो जाता है । मनु की इस व्यवस्था से हमेशा योग्यता प्राप्त करने की प्रेरणा मनुष्य को मिलती रहती थी । और ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति को भी भय रहता था कि यदि मैं इन आदर्श गुणों को प्राप्त नहीं करुँगा तो इस वर्ण से विहीन हो जाऊँगा । इसलिये वह भी अपनी योग्यता व गुणों की प्राप्ति तथा उपयुक्त कर्म को करने में प्रयत्नशील रहता था । मनुस्मृति में एक स्थल पर लिखा है[2] कि जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य वेद को न पढ़कर अन्यत्र परिश्रम करता है वह जीता हुआ ही सपरिवार शूद्रता को प्राप्त होता है । मनु के इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि वर्ण व्यवस्था का मूल आधार कर्म है, संसार में मनुष्यों के कर्मों के आधार पर चार विभाग किये जा सकते हैं । बुद्धि से सम्बन्धित कर्म करने वालों को ब्राह्मण, रक्षा सम्बन्धित कर्म करने वालों को क्षत्रिय तथा व्यापार करना कृषि, गोपालनादि कार्य करनेवालों को वैश्य तथा जो इन तीनों प्रकार के कार्य को करने की योग्यता न रखते हों या नहीं कर सकते हों जो शारीरिक सेवा जैसे भोजन पकाना, कपड़े धोना, साफ सफाई करने आदि का कार्य करते हों उन्हें शूद्र कहा जाता है । ब्राह्मण के कर्मों का उल्लेख करते हुए मनु ने लिखा है ।

---

१. *शूद्रो ब्राह्मणामेति, ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् । (मनु. १०-६५)*
२. *स योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।*
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ (मनु.)

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।। (मनु. १-८८)

पढ़ना, पढ़ाना तथा यज्ञ करना और कराना, दान देना और लेना ये छः कर्म ब्राह्मण के बताये हैं । अर्थात् जो व्यक्ति स्वयं शास्त्रों का अध्ययन करता है और दूसरों को पढ़ाता है, सत्य मार्ग दिखलाता है, यज्ञ स्वयं करता है और दूसरों के यहां भी यज्ञ कराता है । अपनी जीविका के लिये यज्ञ कराने और पढ़ाने के निमित्त से दूसरों से दान ग्रहण करता और शुभ कर्मों में स्वयं भी दान देता है ये शुभ कार्य करने वाला ब्राह्मण कहलाता है जो इन कर्मों से विहीन होगा वह ब्राह्मण वर्ण से विहीन हो जायेगा । इस वर्ण में रहने के लिये उसे इन कर्मों में निरन्तर लगा रहना होता है । वेद[1] में ब्राह्मण की उपमा अथवा तुलना सिर से की गयी है । मानव शरीर की एक समाज के रूप में कल्पना की गयी है और शरीर में सिर का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण होता है । सारी ज्ञानेन्द्रियाँ 'आँख-नाक-कान-रसना' आदि सिर में रहती हैं और त्वचा अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय सारे शरीर में होती है । इन ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है तथा इन इन्द्रियों के साथ 'वाक्' (वाणी) कर्म इन्द्रिय भी मुख में होती है । जो बोलने का कार्य करती है । शरीर की रक्षा के लिये मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करता है और प्राप्त ज्ञान को वाणी के द्वारा दूसरों को बतलाता है । यदि शरीर को किसी बांह्य शत्रु से खतरा पैदा होता है तो तुरन्त वह अन्य अँगों को आदेश देता है । यदि सामने आता हुआ सांप आँख से दिखता है तो जीवात्मा तुरन्त पैरों को रुकने का आदेश देकर रोक लेता है । यदि कोई अन्य आक्रमण करता है तो उसे रोकने के लिये हाथों को आदेश देता है । ठीक इसी प्रकार समाज एवं राष्ट्र के लिये आवश्यक जानकारी करने का कार्य ब्राह्मण करता है और अन्य लोगों को अपनी वाणी के द्वारा ज्ञान देता है यही उसका पढ़ना

---

१. *ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् (यजुर्वेद-३१-११)*

और पढ़ाना है । अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा समाज और राष्ट्र में अंदर तथा बाहर से होने वाले आक्रमणों का ज्ञान करके समाज एवं राष्ट्र को सूचित करता है, उनका मार्ग निर्देश करता है । जिससे समाज एवं राष्ट्ररूपी शरीर सुरक्षित रह सके । यदि मनुष्य आँखों से अन्धा होगा तो कहीं पर ठोकर खा जायेगा, कहीं पर भी गिर जायेगा, ठीक इसी प्रकार जो समाज और राष्ट्र ब्राह्मण विहीन हो जायेगा या ब्राह्मण अन्धा अर्थात् कर्तव्यहीन हो जायेगा वह समाज व राष्ट्र-नष्ट हो जायेगा, कहीं का कहीं पहुंच जायेगा । इसलिये समाज और राष्ट्र को सुरक्षित रखने के लिये ब्राह्मणों की सुरक्षा अत्यावश्यक है इसीलिये कहा गया है कि ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये ।[१]

ब्राह्मण के कार्य के साथ उसमें क्या गुण होने चाहिये इस विषय में वेद में मुख के साथ तुलना करके अच्छा मार्ग निर्देश किया है । मनुष्य शरीर के सारे अंगों को वस्त्रों से ढ़के रहते हैं । लेकिन भयानक सर्दी में भी मुख खुला ही रहता है। मुँह के समान ब्राह्मण को तपस्वी होना चाहिये । वह सर्दी-गर्मी-बरसात को सहन करनेवाला हो अर्थात् मान-अपमान-सुख-दुखादि द्वन्द्वों में समान रहे । तभी वह अपने ब्राह्मणोचित कर्म का निर्वाह कर सकता है । मुँह में अच्छा से अच्छा खाद्य पदार्थ जाता है किन्तु वह अपने पास कुछ भी नहीं रखता है सब पेट में पहुँचा देता है । यदि दाँतों में कुछ फंसा भी रहता है तो जीभ चैन से नहीं बैठती है, वह कुरेद-कुरेद कर उसको निकाल ही देती है। ब्राह्मण भी मुँह के समान त्यागी और तपस्वी होना चाहिये । वह धन के लोभ से जितना दूर होगा, सांसारिक प्रलोभन अपने पास आने नहीं देगा, वही अपने ब्राह्मण धर्म का पालन कर सकेगा तथा समाज और राष्ट्र का मार्ग निर्देश कर सकेगा । इसलिये ब्राह्मणों के पास पर्याप्त भौतिक सुख-सुविधाएं नहीं रहती थीं। इन सुख सुविधाओं को प्राप्त करने के लिये वे इनके पीछे-पीछे नहीं भागते थे अपितु अपने कर्तव्यों को पूरा करने में थोड़े से साधनों से भी काम चला लेते थे । प्राचीन

---

१. *ब्राह्मणो न हन्तव्यः ।*

ग्रन्थों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, कि ब्राह्मणों के पास केवल एक घड़ा अनाज रहता था[१] जब ब्राह्मण बनिये बन गये अर्थात् धन के लालच में क्षत्रिय और वैश्य की चापलूसी या जीहजूरी करने लग गये तब से समाज और राष्ट्र का अधःपतन प्रारम्भ हो गया। अनेक प्रकार की कुरीतियाँ पैदा हो गयीं। मनु की वर्ण व्यवस्था बनी रहती तो ऐसा नहीं होता।

ब्राह्मण के पश्चात् दूसरा वर्ण-क्षत्रिय है। वेद में क्षत्रिय की तुलना बाहु-भुजा से की है।[२] शरीर के किसी भी हिस्से पर किसी भी प्रकार का आक्रमण होता है तो दोनों भुजाएं शरीर की रक्षा करती हैं। इसी प्रकार समाज एवं राष्ट्र पर होनेवाले आक्रमणों से रक्षा करनेवालों को क्षत्रिय कहते हैं। क्षत्रिय का उल्लेख करते हुए मनुस्मृति में लिखा है

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः। (मनु. १-८९)

अर्थात् प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना और स्वाध्याय करना, विषय वासना में न फंसकर जितेन्द्रिय होकर सदा बलवान और चरित्रवान् रहना ये क्षत्रिय के कर्म हैं। साधन और अधिकार होने पर मनुष्य में विषय-वासनादि चारित्रिक दोष उत्पन्न होने की संभावना रहती है। इसलिये इस विषय में सचेत करते हुए मनु ने क्षत्रिय को अपने कर्म की ओर ध्यान दिलाया। इस विषय में ब्राह्मण क्षत्रिय को हमेशा सचेत करता रहे। इसलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है कि ब्राह्मण अपना कल्याण चाहे तो क्षत्रिय को उचित शिक्षा दिया करे यदि क्षत्रिय बिगड़ जायेंगें तो ब्राह्मण भी आलसी और प्रमादी हो जायेगा।

वैश्य की तुलना शरीर के मध्य भाग से की है,[३] जिसमें उदर आता है। मनुष्य जो भी खाता वह सब पेट में आता है जहां रस

१. कुम्भी धान्याः खलु ऋषयो भवन्ति (महाभाष्य)
२. बाहू राजन्यः (यजुर्वेद ३१-११)
३. मध्य तदस्य यद् वैश्यः (यजुर्वेद ३१-११)

रक्तादि धातुओं का निर्माण होता है। शरीर के सभी हिस्सों में रस रक्तादि धातुएं जाती हैं पेट सभी पदार्थों को अपने पास नहीं रखता है। अनावश्यक पदार्थों को मल मूत्रादि के द्वारा शरीर से बाहर निकाल देता है। ठीक इसी प्रकार वैश्य धन कमाता है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्रादि को उनकी आवश्यकता के अनुसार दे देता है। सारा धन अपने पास नहीं रखता है। मनुष्य के उदर में स्थित पदार्थ शरीर के सभी अंगों में न जाय और अनावश्यक पदार्थ शरीर से बाहर न निकले तो शरीर रोगी हो जाता है। इसी तरह वैश्य सारा धन अपने ही पास रखे दूसरों को आवश्यकतानुसार न दे, तो समाज या राष्ट्र रोगी हो जाता है अर्थात् चोरी डाका लूट-पाट और मालिक तथा मजदूरों के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। वैश्य के कर्तव्यों के बारे में मनुस्मृति में लिखा है

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ (मनु. १-९०)

वेदादि शास्त्रों का स्वाध्याय करना, यज्ञ करना, दान देना, पशुओं का पालन करना, व्यापार करना, व्यापार कार्य में ब्याज लेना देना और खेती करना वैश्य के कर्म हैं। वेदों का स्वाध्याय करना, यज्ञ करना और दान देना ये तीनों कर्म ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्य के समान हैं। ये तीनों कर्म तीनों वर्णों के लिये समान रूप से अनिवार्य बताये गये हैं। इन तीनो वर्णों के लिये द्विज शब्द का प्रयोग होता है। दो बार इनका जन्म अर्थात् उपनयन संस्कार होता है, इसलिये इन्हें द्विज कहते हैं।

चौथा वर्ण शूद्र है, शूद्र की तुलना वेद में पैरों से की गयी है।[1] जिस प्रकार पैरों के बिना मनुष्य चल नहीं सकता, शरीर का सारा भार पैर उठाये फिरते हैं, उसी प्रकार शूद्रों के बिना समाज चल नहीं सकता है अर्थात् उसका गुजारा नहीं हो सकता है। समाज का सारा

१. *पद्भ्यां शूद्रो अजायत (यजु. ३१-११)*

भार शूद्र ही उठाये रखते हैं । शूद्र के कार्यों का उल्लेख करते हु
मनुस्मृति में लिखा है

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुकर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनुसूयया ।। (मनु. १-९१)

जिसको पढ़ाने से विद्या न आवे, अर्थात् जो पढ़ाने, राष्ट्र की रक्ष करने या व्यापार करने में समर्थ या योग्य नहीं है, उसे शूद्र कहा गय है । ब्राह्मण शास्त्रों को पढ़ाकर अज्ञान को दूर करता है । क्षत्रि अन्याय के साथ संघर्ष करके समाज और राष्ट्र की रक्षा करता है औ वैश्य व्यापार करके पदार्थों का अभाव दूर करता है । अर्थात् जे अविद्या-अन्याय और अभाव दूर करने में असमर्थ और अयोग्य है उसे शूद्र कहा गया है । तो फिर शूद्र के क्या कर्तव्य हैं इस विषय में मनु ने लिखा है कि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों की ईर्ष्या द्वेष से रहित होकर सेवा करना, यही एक कर्म करने का शूद्र के लिये उपदेश है । इनकी सेवा करके अपनी जीविका चला रहा है तथा जो लोग पढ़ने पढ़ाने, रक्षा करने और व्यापार करने में व्यस्त है उनके लिये भोजन पकाना, कपड़े धोना, बर्तन साफ करना, झाड़ू लगाना आदि शारीरिक कार्य हैं इन कार्यों को करके ब्राह्मणादि वर्णों की सेवा करना यही शूद्र का प्रमुख कर्म है ।

शरीर में जिस प्रकार चारों अंग (सिर-हाथ-पेट-पैर) आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं । एक के बिना अन्य तीनों का काम नहीं चल सकता है । इनमें कोई छोटा बड़ा या ऊंच नीच नहीं है । वेद में सभी वर्णों के लिये समान रूप से प्रार्थना की गयी है । जैसे कि यजुर्वेद में कहा है,[१] हे प्रभो! मेरी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र में रूचि हो, मैं चारों वर्णों से प्रेम करूँ और चारों वर्ण मुझसे प्रेम करें चारों वर्णों का समान स्थान वेदों में बताया है ।

---

१. *रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु, रुचं राजसु नस्कृधि ।*
रुचं विश्येषु मयि धेहि रुचारुचम् ।। (यजु. १८-४८)

आश्रम

मनुष्य का जीवन बहुमूल्य एवं महत्वपूर्ण है । अनेक जन्म जन्मान्तरों की तपस्या के फल स्वरूप यह मानव जन्म प्राप्त होता है। मानव जीवन के महत्व के बारे में अथर्ववेद में लिखा है कि "मनुष्य शरीर आठ चक्र और नौ दरवाजों वाली यह देवताओं की नगरी अयोध्या है[1]। अथर्ववेद में ही अन्यत्र लिखा है कि मनुष्य के शरीर को घर बनाकर देवता इसमें प्रविष्ट हो गये हैं[2]। अन्य ग्रन्थों में भी मानव शरीर के महत्व के बारे में वर्णन मिलता है । ऐतरेय उपनिषद्[3] में इस विषय में लिखा है कि इस शरीर में देवताओं का वास है इसमें अग्नि देवता वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट है । वायु देवता प्राण बनकर नासिका में प्रविष्ट हुआ है । सूर्य चक्षु बनकर नेत्रों में प्रविष्ट हुआ । चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हुआ । इन सब प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि मनुष्य को जीवन में हमेशा शुभ कर्म करना चाहिये, इसी को ध्यान में रखते हुए मनुष्य जीवन को चार भागों में विभक्त किया है । जिन्हें आश्रम कहते हैं, जिसका तात्पर्य है "निरन्तर श्रम करना, जहां परिश्रम ही परिश्रम है । हर समय सावधान और जागरूक रहते हुए- परिश्रम करते रहने को आश्रम कहते हैं । इसमें आलस्य-प्रमाद-निष्क्रियता का कोई स्थान नहीं है । मनुष्य की आयु सामान्य रूप से वेदादि शास्त्रों में १०० वर्ष की मानी गयी है[4]। इसलिये २५-२५ वर्ष के जीवन के चार विभाग किये गये हैं । जिनके नाम इस प्रकार है—

१. ब्रह्मचर्य २. गृहस्थ ३. वानप्रस्थ ४. संन्यास ।

मनुष्य जीवन के महत्व के बारे में वेदादि शास्त्रों में जो उल्लेख किया गया है उससे स्पष्ट होता है कि, इस मानव शरीर का महान्

---

१. *अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । (अथर्ववेद. १०-२-३१)*
२. *गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् (अथर्व. ११-८-१८)*
३. *अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत् (ऐतरेय उपनिषद् २-१४)*
४. *पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्- (यजु. ३६-२४)*

उद्देश्य एवं आदर्श है । जो व्यक्ति सब आत्माओं को अपने अ
देखता है और अपने में सबको देखता है उसको सन्देह नहीं रहता है
अर्थात् दूसरे में अपने को देखना और अपने में दूसरों को देखना
वैदिक आदर्श है । अपने अन्दर अपने को देखने वाले तो सब
किन्तु दूसरे में अपने को देखने वाले बहुत कम मिलते हैं । वेद उ
आदर्श की ओर संकेत कर रहा है कि दूसरे में अपने को देखो । य
हमारा कोई अपमान करता है तो हमको दुःख होता है, हमारा को
सम्मान करता है तो हमें प्रसन्नता होती है । तो हमें दूसरे का अपमा
न करके सम्मान करना चाहिये । हमारे साथ यदि कोई धोखेबा
करता है या झूठ बोलता है या हमें कोई कष्ट या पीड़ा देता है तो ह
दुःख होता है इसलिये हमारा व्यवहार भी ऐसा होना चाहिये कि ह
दूसरों के साथ धोखेबाजी न करें दूसरों के साथ झूठ न बोलें, दूस
को कष्ट या पीड़ा न दें, यही दूसरों में अपने को और अपने में दूस
को देखना है । इस महान् आदर्श को व्यावहारिक रूप से कैसे सीख
अपने कष्ट को दूर करने के लिये मनुष्य रात भर जाग सकता है
किन्तु दूसरे के लिये रात भर जागना पड़े तो कैसे जागे, यह कै
सीखे । यही तो हमें "आश्रमव्यवस्था" सिखाती है कि हम दूसरों
लिये अपनी निद्रा का त्याग करें । यह पाठ क्रमशः चारों आश्रमों
द्वारा सीखने को मिलता है ।

प्रथम आश्रम 'ब्रह्मचर्य' है । इसमें अपना पढ़ना, अपना लिखना
अपना काम करना, अपनी पुस्तकादि, वह अपने तक ही सीमित रहता
है । जब वह विवाह करके गृहस्थ में प्रवेश करता है तब वह अपने
तक सीमित नहीं रहता है । पत्नी के दुःख को पति अपना दुःख
समझता है और पति के दुःख को पत्नी अपना दुःख समझने लगती
है दोनों एक दूसरे के दुःख को दूर करने के लिये प्रयत्न करते हैं ।
यदि पत्नी बीमार है और उसकी सेवा या देखभाल करनी है तो पति

---

१. *यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।*
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ (यजुर्वेद ४०-६)

रातभर बिना सोये बैठे बैठे ही निकाल देता है । ठीक इसी प्रकार पत्नी भी पति के लिये पूरी रात जागती है। यही पाठ गृहस्थ में सीखना प्रारम्भ किया कि दूसरों के लिये किस प्रकार जागा जा सकता है । अब यदि बच्चे हो गये तो बच्चों को अच्छा खाना चाहिये, अच्छे कपड़े चाहिये, अच्छी शिक्षा के लिये अच्छे विद्यालय में उनको प्रवेश चाहिये, तो माता-पिता स्वयं सस्ता कपड़ा पहनकर बच्चे को उसकी इच्छानुसार अच्छा कपड़ा पहनाते हैं। सन्तान अच्छी शिक्षा प्राप्त करे, यदि बच्चा बीमार हो जाय और उसकी देखरेख के लिये रात्री को जागना भी पड़े तो बिना किसी के कहे, परिश्रम से थके और परेशान माता पिता पूरी रात बिना सोये बच्चे के पास जागते जागते निकाल देते हैं । यही पाठ है कि हम दूसरे में अपने को देखना प्रारम्भ कर देते हैं । दूसरे में अपने को देख रहे हैं इसलिये जैसे अपने लिये जागा जाता है उसी प्रकार दूसरों के लिये भी जागा जाता है । यही छोटे से बड़े होने के व्रत अर्थात् ब्रह्म का व्रत ब्रह्मचर्य आश्रम में लेता है । आत्मिक विकास का काम यहीं तक नहीं रुकता है, इसलिये गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति अपने और अपने परिवार तक सीमित रहता है । उससे तो और भी विकास करना है इसलिये तृतीय आश्रम 'वानप्रस्थ' में प्रवेश करता है । गृहस्थ के सारे उत्तरदायित्व को अपने पुत्रों को सौंपकर 'वन' में प्रस्थान करता है वहां आश्रम में रहकर त्याग और तपस्या युक्त जीवन व्यतीत करता हुआ अब दूसरों के बच्चों को पढ़ाता है । गृहस्थ में अपने ही बच्चों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता था । वानप्रस्थाश्रम में विकास की एक सीढ़ी और आगे बढ़ता हुआ अब दूसरों के बच्चों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता है । अपने बच्चों के समान उनके दुःखों को दूर करने के लिये भी यदि रात भर जागना पड़े तो जागता है । अब आश्रम में रहने वाले सारे बालक उसके बालक हैं । गृहस्थ में दो-चार बालक उसके थे उनमें अपने को देखता था किन्तु 'वानप्रस्थाश्रम' में सैकड़ों बालक जो उसके पास विद्याध्ययन कर रहे हैं उसके बालक हैं उनमें अपने को

देखता है । उनके सुख के लिये हमेशा प्रयत्नशील रहता है । मनुष्य के आत्मिक विकास की तृतीय सीढ़ी है । इससे भी आगे कदम और चलता है जिसे "संन्यास आश्रम" कहते हैं । इस आश्रम में वह सारे संसार के प्राणियों में अपने को देखता है । उनके दुःख को दूर करने के लिये निरन्तर भ्रमण करता हुआ उपदेश द्वारा प्रयत्न करता है । अब तो उसका सारा संसार ही घर है[1] इसलिये वह एक स्थान पर अधिक से अधिक तीन दिन ही रह सकता है उससे अधिक समय तक उसके रुकने का विधान नहीं है । यदि संन्यासी एक जगह ही गृहस्थियों की तरह मकान बनाकर रहने लगेगा तो राग द्वेष से स्वयं ग्रसित हो जायेगा और दूसरे स्थान के लोग उसके ज्ञान उपदेश से वञ्चित रह जायेंगे । वह तो सभी में अपने को देखता है इसलिये यदि उनके लिये उसे कुछ श्रम करना पड़े तो वह करता है इस प्रकार व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम में अपने तक सीमित था इस आश्रम में उसने ब्रह्म-महान् होने का व्रत लिया और इतना महान् हुआ कि जीवन के अन्तिम चरण अर्थात् संन्यास आश्रम में प्राणि मात्र में अपने को और अपने में सभी प्राणियों को देखने लगता है यही आदर्श है जिसकी घोषणा करता है कि सभी प्राणियों को मैं मित्र की दृष्टि से देखता हूँ[2]।

ब्रह्मचर्य आश्रम —२५ वर्ष तक का समय ब्रह्मचर्य आश्रम माना जाता है । इस आश्रम में विद्यार्थी विद्याध्ययन करता हुआ अपनी शारीरिक-मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकास करता है मनुष्य जीवन का मुख्य आधार यह आश्रम है, जीवनरूपी भवन की यह आधारशिला है । यदि आधार शिला या मकान की नींव कमजोर होती है तो मकान भी कमजोर होता है । इसलिये इस आश्रम में रहते हुए तपस्यापूर्वक अपना निर्माण करता है विद्यार्थी को ब्रह्मचारी कहते हैं । 'बृहि वृद्धौ' धातु से ब्रह्म शब्द बनता है जो बड़ा होने की- महा

१. *वसुधैव कुटुम्बकम्*
२. *मित्रस्य त्वा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् (यजु. ४०-७)*

होने की अभिलाषा को लेकर नियमों का व्रतों का पालन करता है उसे ब्रह्मचारी कहते हैं । इसके लिये वह गुरु के पास जाता है, गुरु उसको विश्वास दिलाता है कि मैं तेरे हृदय और मस्तिष्क के निर्माण की जिम्मेदारी अपने हाथों में लेता हूँ[1]। जीवन के हर क्षेत्र में सफलता की चरम सीमा पर पहुँचने के लिये बालक को अपने शरीर की भौतिक शक्ति का संचय करना होता है इसलिये आसन-प्राणायाम व्यायाम करके शारीरिक शक्ति के भण्डार वीर्य को सुरक्षित रखना होता है । जिसकी ओर गुरु बार-बार ध्यान दिलाता है इसलिये उसे आचार्य कहते हैं, क्योंकि वह सदाचार-अच्छा आचरण सिखलाता है[2] । उस समय बालक को सदाचार विषयक् उपदेश इस प्रकार दिया जाता है कि तू ब्रह्मचारी है इसलिये ईश्वरोपासना किया कर, कर्म करने में लगे रहना, कभी भी खाली मत रहना, दिन में शयन मत करना, आचार्य (गुरु) के अधीन रहकर वेदादि शास्त्रों को पढ़ना, क्रोध मत करना और झूठ न बोलना, भूमि पर शयन करना, पलंगादि पर मत सोना, आठ प्रकार के मैथुन (स्त्री का ध्यान, उससे चर्चा करना । स्पर्श करना, क्रीडा दर्शन-आलिंगन, एकान्त वास और समागम) से हमेशा दूर रहना, अति भोजन, अति निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक कभी न करना, रात्री के चतुर्थ प्रहर में अर्थात् प्रातःकाल ३-४ बजे जागकर शौच स्नानादि से निवृत्त होकर सन्ध्योपासना, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना योगाभ्यास का आचरण नित्य किया करें[3]। इस प्रकार की शिक्षा के द्वारा उसका चरित्र निर्माण कर के शारीरिक शक्तियों का विकास किया जाता है जिससे वह आगे बढ़ सके और मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी उन्नति

---

१. *मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु (पार.गह्य सूत्र २-२-१६)*
२. *आचारं ग्राह्यतीति आचार्यः (निरुक्त)*
३. *ब्रह्मचार्यसि । कर्मकुरु । दिवा मा स्वाप्सीः । आचार्याधीनो वेदमधीष्व । क्रोधानृते वर्जय, उपरिशय्यां वर्जय, मैथुनं वर्जय । अत्यन्तं स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभ मोहभयशोकान वर्जय, प्रतिदिनं रात्रे पश्चिमे यामे चोत्थायावश्यकं कृत्वा...सन्ध्योपासनेश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना... आचर (गृह्यसूत्र)*

कर सके । बाल्यकाल में जितना तपस्यापूर्ण जीवन होगा गृहस्थ
उतना ही वह सुख का उपभोग कर सकेगा । इसलिये ब्रह्मचर्य आ
तप और त्याग का आश्रम है । इसमें गुरु की सेवा और आज्ञा पा
करते हुए उससे ज्ञान प्राप्त करके अध्ययन करना, ब्रह्मयज्ञ अ
ईश्वर की उपासना करना, देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र करना तथा अ
शारीरिक बौद्धिक और आत्मिक विकास करना मुख्य कर्तव्य है

२. गृहस्थ आश्रम — जीवन का द्वितीय आश्रम गृहस्थ है इ
समय २६ से लेकर ५० वर्ष तक का है । गृहस्थ आश्रम में सदा
चरित्रवान् और पढ़ा-लिखा व्यक्ति ही प्रवेश करे ऐसा मनु ने लि
है[1]। क्योंकि चरित्रवान् सदाचारी और पढ़ा लिखा योग्य व्यक्ति
अच्छी सन्तान समाज-राष्ट्र और विश्व को दे सकेगा । दूसरे के दु
को अपना दुःख समझकर अर्थात् पत्नी-पति के दुःख को पति-
के दुःख को अपना दुःख समझकर और पति-पत्नी दोनों ही सन्
के दुःख को अपना समझकर उसे दूर करने के योग्य हों, वे
गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें । पराये में अपने को देखने की शक्ति
योग्यता जिसमें हो, वही गृहस्थ आश्रम में जावे, स्वार्थी व्य
गृहस्थी बनेगा तो संसार बिगड़ जायगा । यही आश्रम है जो स
और राष्ट्र को सदाचारी - चरित्रवान् बुद्धिमान् नागरिक दे सकता
या चोर-डाकू-स्वार्थी और दुराचारी भ्रष्ट व्यक्ति भी इसी आश्रम
प्राप्त होते हैं इसलिये गृहस्थ आश्रम सब के लिये अनिवार्य
आवश्यक नहीं है किन्तु यह योग्यता और गुणों पर निर्भर करता

इस आश्रम में गृहस्थ स्त्री-पुरुष, दूसरों में अपने को, और अ
में दूसरों को देखने का और समझने का प्रयत्न करते हैं । इसके लि
इनको प्रतिदिन पांच कर्तव्यों (महायज्ञों) का उल्लेख किया है ।

१. ब्रह्मयज्ञ - ईश्वर की उपासना करना, उसको धन्यवाद दे
उसके गुणों का चिन्तन करना, जिससे वे गुण इनके जीवन में
सके।

---

१. *वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।*
अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत ॥ (मनु. ३-२)

२. देवयज्ञ - अग्निहोत्र करना, शरीर से मनुष्य प्राकृतिक वातावरण को शुद्ध करने के लिये अग्नि में घी तथा पुष्टिकारक-दुर्गन्ध नाशक, और सुगन्धवर्धक सामग्री- जड़ी बुटियों को डालना जिससे वायुमण्डल शुद्ध और पवित्र हो ।

३. पितृयज्ञ - माता पिता की श्रद्धापूर्वक सेवा करना, माता पिता ने बाल्यकाल से सन्तान का पालन किया, अब वृद्ध माता पिता की उनकी सन्तान श्रद्धापूर्वक सेवा करे, उनके दुःख को अपना दुःख समझकर दूर करने का यत्न करे तथा अपने सुख के समान उनके सुखों का ध्यान रखे ।

४. बलिवैश्वदेव यज्ञ - घर में नौकरादि का तथा दुःखी और भूखे प्राणी का ध्यान रखना, उनको भोजन, वस्त्रादि तथा गाय-बकरी-घोड़ा-कुत्ता-कौआ-चींटी आदि प्राणियों को भी खाद्य सामग्री देना और उनकी रक्षा करना, क्योंकि उनमें भी अपने समान आत्मा है । उनके दुःख और सुख को समझकर उसके अनुसार व्यवहार रखना ।

५. अतिथियज्ञ - घर पर आये हुए विद्वान्-संन्यासी-सन्त महात्मा का स्वागत करना, उनको भोजनादि करा कर सन्तुष्ट रखना ।

इन सभी कर्तव्यों के द्वारा गृहस्थ स्त्री-पुरुष अपनी आत्मिक उन्नति करते हैं, दूसरे में अपने को देखने का क्रियात्मक रूप से प्रयत्न करते है । इसी आश्रम से धरती को स्वर्ग बनाने की विश्व के निर्माण की रूपरेखा तैयार होती है । यह क्रम इसी आश्रम में रुक न जाय इसलिये गृहस्थी स्त्री-पुरुष वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते हैं ।

३. वानप्रस्थ आश्रम - इस आश्रम का समय ५१ से ७५ वर्ष तक का है । यह आश्रम स्वैच्छिक नहीं, अनिवार्य है । प्रत्येक गृहस्थ को वानप्रस्थ बनना ही होगा जिससे विकास का क्रम जारी रहे तथा माता पिता के प्रति पुत्रों का श्रद्धा भाव बना रहे जब पुत्र के भी पुत्र हो जाय तब गृहस्थ के कर्तव्य पालन का उत्तरदायित्व पुत्र को सौंपकर मनुष्य स्वयं अपने आत्मिक विकास के लिये वन में प्रस्थान करे । वहां गुरुकुल आश्रमादि में रहकर साधना करता हुआ बच्चों को शिक्षा दे । गृहस्थ में उसका आत्मिक विकास अपने परिवार तक

सीमित था, अब इसमें अधिक विकास करता है और दूसरों के ब को भी अपने बच्चे समझकर उनको पढ़ाता है, उनको सदाचार शिक्षा देकर चरित्र निर्माण करता है । हजारों बच्चे उसके हैं, उन में वह अपने को देखता है उनके दुःख सुख को अपना समझ उसके लिये प्रयत्न करता है । आज के युग में शिक्षा कितनी मह है यदि वानप्रस्थ आश्रम की परम्परा चल जाय तो शिक्षा निःशुल्क सकती है ।

४. संन्यास आश्रम - ७६ से १०० वर्ष का समय इस आ का है । ब्रह्मचर्य में विद्यार्थी को अपना ही अपना दीखता है । गृह में वह दूसरे में अपने को देखता है, किन्तु यह दृष्टि एक परिवार ही रहती है, इसलिये इसे अधिक विकसित करने के लिये वानप्रस्थ में प्रवेश करता है जहां सैंकड़ों, हजारों बच्चों में अपने देखता है । यह दृष्टि भी एक विद्यालय, गुरुकुल या आश्रम तक सीमित न रह जाय । वह संसार ही उसका घर है, वह उनके कष्टों दूर करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील हो जाय अर्थात् व्यक्ति, परिवार समाज या राष्ट्र का नागरिक नहीं अपितु विश्व का नागरिक जाय इसके लिये संन्यास आश्रम का विधान किया है । इसके बहुत तैय्यारी करनी होती है । उसे अपने पुत्रों का, धन-सम्पत्ति मोह त्यागना होता है और इसके साथ ही साथ लोकैषणा अ संसार में अपने नाम-प्रतिष्ठा और सम्मान का भी परित्याग परमेश्वर का प्रतिनिधि बनकर प्राणी मात्र की सेवा में अहर्निश ल रहना होता है । जो इसके योग्य हो वही संन्यास ग्रहण करे अ वानप्रस्थी या ब्रह्मचारी ही रहे । यह भी गृहस्थ के समान स्वैच्छिक अनिवार्य नहीं, जो विश्व का नागरिक होकर विश्व कल्याण का प्र कर सके, वही संन्यासी बने । क्योंकि विश्वकल्याण हेतु वह 'राजा' भी मार्गनिर्देश करता है इसलिये उसे राजाओं का राजा कहा जाता उसे परिव्राट् कहा जाता है क्योंकि वह निरन्तर भ्रमण करता रहता इस प्रकार आश्रम व्यवस्था के द्वारा मनुष्य अपने जीवन में महान् का प्रयत्न कर जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करता है ।

वैदिक त्रैतवाद

प्रत्येक वस्तु का कोई बनाने वाला 'निर्माता' होता है । तथा जिस पदार्थ से वस्तु बनती है वह पदार्थ भी होता है और जिसके लिये वह वस्तु बनायी जाती है उस वस्तु का उपयोग करने वाला भी अवश्य होता हैं । इन तीनों के बिना वस्तु का निर्माण नहीं हो सकता और न ही उसकी उपयोगिता सिद्ध हो सकती है ।

जैसे घड़े को बनाने वाला निर्माता कुम्हार होता है तथा जिस मिट्टी से घड़ा बनता है और मिट्टी के घड़े का उपयोग करने वाला घड़े में पानी भरने वाला, घड़े के पानी को पीने वाला व्यक्ति भी होता है । यदि इन तीनों में से कोई एक भी न हो तो घड़ा नहीं बन सकता और उसकी उपयोगिता भी सिद्ध नहीं हो सकती । जैसे घड़े को बनाने वाला कुम्हार हो और यदि मिट्टी न हो तो घड़ा नहीं बन सकता है और यदि मिट्टी हो और घड़ा बनाने वाला कुम्हार न हो तब भी घड़ा नहीं बन सकता है । यदि घड़ा बनाने वाला कुम्हार और मिट्टी दोनों ही हों तब घड़ा तो बन जाता है किन्तु यदि घड़े का उपयोग करने वाला घड़े को काम में लाने वाला न हो तो घड़े का निर्माण निरर्थक है । इसलिये घड़े को बनाने वाले के साथ घड़े का उपयोग करने वाले का होना भी आवश्यक है, यह तीनों ही घड़े के निर्माण में आवश्यक है इन सबका अपना महत्व है ।

इसी प्रकार भोजन, वस्त्र, मकानादि प्रत्येक पदार्थ में बनाने वाला, जिससे भोजन वस्त्रादि बनते हैं वह पदार्थ तथा जिसके लिये बनाया जाता है वह ये तीनों ही होते हैं । इन तीनों को शास्त्रीय भाषा में निमित्त कारण, उपादान कारण तथा साधारण कारण कहते हैं । घड़ा बनाने वाले कुम्हार को घड़े का निमित्त कारण कहते हैं तथा जिस मिट्टी से घड़ा बनता है वह मिट्टी घड़े का उपादान कारण है और जिसके लिये घड़ा बना है वह साधारण कारण कहलाता है ।

इसी प्रकार इस सृष्टि को बनाने वाला परमेश्वर है जिससे यह सृष्टि बनी है उसे प्रकृति कहलाती है । वह भी है और जिसके लिये

सृष्टि का निर्माण हुआ है उसे जीवात्मा कहते हैं । इस सृष्टि में इ तीनों का होना आवश्यक और महत्वपूर्ण है । यदि इन तीनों में कोई एक भी न हो तो यह सृष्टि नहीं बन सकती । यदि सृष्टि बनाने वाला परमेश्वर ही हो और जिससे इस सृष्टि का निर्माण कर है वह प्रकृति न हो तो परमेश्वर सृष्टि नहीं बना सकता है और यं प्रकृति ही हो और इसका बनाने वाला ईश्वर न हो तब भी यह सृ अपने आप नहीं बन सकती है । क्योंकि, जड़ पदार्थ में अपने अ क्रिया नहीं होती है । बिना कुम्हार के मिट्टी से घड़ा अपने आप स्व नहीं बनता है । वैसे ही जड़ प्रकृति से सृष्टि अपने आप नहीं बन है । यदि ईश्वर और प्रकृति दोनों ही हो और जिसके लिये इस सृ का निर्माण होता है वह जीवात्मा न हो तब भी सृष्टि की क उपयोगिता नहीं होती है। यदि जीवात्मा न हो तो सृष्टि का निर्म परमेश्वर किसके लिये करता है, उसका सृष्टि निर्माण करना निरर्थ होगा । इसलिये सृष्टि के निर्माण में जीवात्मा का भी महत्वपूर्ण स्थ है ।

शास्त्रीय दृष्टि से ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण प्रकृति सृष्टि उपादान कारण तथा जीवात्मा सृष्टि का साधारण कारण है । ये ती ही आवश्यक हैं । इन तीनों की अनिवार्यता की दृष्टि से ही इस लिये 'त्रैतवाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है । वेद में इन तीनों अस्तित्व उपयोगिता और अनिवार्यता का स्पष्ट वर्णन किया है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीती ॥

(ऋग्वेद-१.१६४.

अर्थात् ईश्वर और जीव दोनों चेतन और अनादि हैं तथा तीस अनादि कारण प्रकृति है । प्रकृति से बने हुये संसार रुपी वृक्ष का फ जीवात्मा भोग रहा है तथा परमेश्वर इसका फल न खाता हुआ चा ओर देख रहा है । अर्थात् सृष्टि का निर्माण परमेश्वर ने अपने लि नहीं अपितु जीवात्मा के लिये किया है । वही इस सृष्टि में कर्म कर है तथा उनका फल भोगता है ।

महाभारत युद्ध के बाद वेदादि शास्त्रों के विपरीत अनेक विचारधाराएं प्रारम्भ हो गयी । उन्हीं विचारधाराओं में "वैदिक त्रैतवाद" के स्थान पर द्वैतवाद-अद्वैतवाद, विशिष्ट द्वैतवादादि विचारधाराओं का प्रचलन प्रारम्भ हुआ और जन सामान्य 'वैदिक त्रैतवाद' के स्वरूप और महत्व को भूल गया है । जड़ 'प्रकृति' और चेतन 'पुरुष' ये दोनों पृथक्-पृथक तत्व हैं जिनके परस्पर संयोग से संसार बनता है । निमित्त 'ईश्वर' और उपादान 'प्रकृति' दोनों के द्वारा जीवात्मा के लिये सृष्टि अपने आप बन गयी है। जड़ पदार्थों के परस्पर मिलने से अवस्था विशेष में चेतनता आ जाती है। जैसे दही और गोबर के मिलने से बिच्छु पैदा हो जाते हैं । वैसे ही पाँच स्थूल भूतों से पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु और आकाश के विशेष सहयोग होने पर चेतन जीवात्मा बन जाता है । अर्थात् 'जड़ से ही चेतन बन जाता है यह विचारधारा प्रारम्भ हो गयी । जिसे चारवाक् सम्प्रदाय ने प्रचारित किया । आधुनिक भौतिकवादी भी इसी प्रकार मानते हैं की कुछ प्राकृतिक द्रव्यों के मिश्रण से प्रोटोप्लाज्म बन जाता है अर्थात् 'जीवन' प्रारम्भ हो जाता है । सृष्टि के बनानेवाले चेतन (परमात्मा) की आवश्यकता नहीं है अपितु जड़ पदार्थों से ही स्वयं सृष्टि बन जाती है।

इस विचारधारा के ठीक विपरीत शंकराचार्य ने घोषणा की कि, चेतन 'ब्रह्म' से ही जड़ जगत् पैदा हुआ है । "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" का उद्घोष किया, उनकी विचारधारा को 'अद्वैतवाद' के नाम से जाना जाता है । उन्होंने अपनी मान्यता स्थापित करने के लिये अनेक उदाहरण दिये हैं । केवल ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है इसके लिये ब्रह्म से अतिरिक्त प्रकृति को मानने की आवश्यकता नहीं है । जैसे मकड़ी अपने अन्दर से ही जाला बनाती है वैसे ही चेतन ब्रह्म 'परमेश्वर' ने अपने द्वारा ही यह संसाररूपी जाला बनाया है । इस प्रकार ब्रह्म ही सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है । इसलिये नवीन वेदान्त में ब्रह्म को सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहा जाता है । किन्तु मकड़ी के जाले पर के

उदाहरण पर गहन चिन्तन करने से स्पष्ट होता है की मकड़ी का शरी और मकड़ी के शरीर के अन्दर रहनेवाला जीवात्मा ये दोनों मिलक जाले को बनाते हैं । मरी हुई मकड़ी जाला नहीं बना सकती । इस प्रकार बिना शरीर के केवल जीवात्मा भी जाला नहीं बना सकता है इस उदाहरण से भी वैदिक त्रैतवाद की मान्यता ही पुष्ट होती है कि अकेला चेतन ब्रह्म 'परमेश्वर' सृष्टि की रचना नहीं कर सकता है औ अकेली प्रकृति (जड़) भी सृष्टि की रचना नहीं कर सकती है अपि चेतन और जड़ के सहयोग से निमित्त और उपादान कारण से जग की रचना होती है । अर्थात् सृष्टि की रचना में ब्रह्म (निमित्त कारण के साथ प्रकृति (उपादान कारण) दोनों का होना आवश्यक है । प्रकृ के बिना सृष्टि नहीं बनायी जा सकती है ।

यदि चेतन ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है तो सामान्य नियम यह है कि जो गुण 'उपादान' कारण में होते हैं वे ही गुण उस बने हुये कार्य (पदार्थ) में भी रहते है । जैसे मिट्टी के गुण मिट्टी के बने हुये घड़े में रहते हैं । मिट्टी के घड़े में तांबे या पीतल के गुण नहीं आ जाते हैं । वैसे ही चेतन ब्रह्म (अपादान कारण) से बने हुये संसा में चेतनता रहनी चाहिये । फिर चेतन ब्रह्म से जड़ जगत कैसे आ गयी है । ब्रह्म तो आनन्द स्वरूप है परन्तु इससे बने हुये संसार में दुःख क्यों है? यह प्रश्न जब अद्वैतवादी के सामने रखा जाता है तब इसका वे समाधान करते हुये कहते हैं क़ि यह 'विवर्त' के कारण होता है । अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिये श्री शंकराचार्य ने अपने नवीन शब्दों की रचना भी की और अपनें ढंग से इनका अर्थ किया है । वे कहते हैं कि, एक परिणाम होता है और दूसरा विवर्त होता है । दूध को जमाने पर दही बनता है । दही दूध का परिणाम है तथा रात्री के अन्धेरे में रस्सी पड़ी हुई है, अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी को मनुष्य प्रकाश पूरी तरह न होने से साँप समझता है और भयभीत होने लगता है । अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी को सर्प समझना 'विवर्त' कहलाता है । रस्सी वास्तव में साँप नहीं है किन्तु भ्रम के कारण मनुष्य उसे सर्प समझता है ठीक उसी प्रकार मनुष्य जिस जगत् को जड़ कहता है और

प्रत्येक मनुष्य पृथक्-पृथक् अपनी सत्ता स्वीकार करता है यह सब विवर्त है, भ्रम है । वास्तव में केवल ब्रह्म की ही सत्ता है और सारा संसार मिथ्या है । यह उनका प्रसिद्ध वाक्य है- ''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः । अर्थात् ब्रह्म की सत्ता ही वास्तविक रूप में है, चेतन ब्रह्म का ही अस्तित्व है और सारा संसार मिथ्या- मिथ्या-झूठा है, भ्रम है । जीव ब्रह्म ही है अन्य नहीं ।

संसार मिथ्या क्यों है? इसका समाधान करते हुये लिखते हैं कि, जैसे स्वप्न में मनुष्य देखता है कि उसका भाई या पुत्र उसके पास में खड़ा है किन्तु जैसे ही आँख खुलती है तो उसका भाई या पुत्र पास में खड़ा हुआ नहीं दिखता है अर्थात् स्वप्न में देखी हुई वस्तु का अस्तित्व नहीं होता है वैसे ही संसार का वास्तविक रुप में अस्तित्व नहीं है यह सब स्वप्न के समान मिथ्या है, भ्रम है, झूठा है ।

स्वप्न में जिस प्रकार पदार्थों का अस्तित्व नहीं होता है उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी जिन पदार्थों को हम देखते हैं उनका अस्तित्व नहीं होता है । इस विषय में उदाहरण देते हुये आचार्य शंकर लिखते है कि जाग्रत अवस्था में पदार्थों का अस्तित्व नहीं है । क्योंकि दिखाई देते हैं, दिखाई देने पर भी उनका अस्तित्व क्यों नहीं है, तो उसका उत्तर देते हुये लिखते हैं, दिखाई देने पर भी उनका अस्तित्व क्यों नही हैं, तो उसका उत्तर देते हुये लिखते हैं कि जैसे स्वप्न में दिखने वाले पदार्थ का वास्तविक रुप में अस्तित्व नहीं होता है, आँख खुलने पर वह पदार्थ नहीं दिखता जो स्वप्न में दिख रहा था । इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में दिखनेवाले पदार्थ का भी कोई अस्तित्व नहीं होता है ।[१]

इसको सामान्य व्यक्ति इस प्रकार कह सकता है कि श्याम नाम का एक व्यक्ति ऑफिस में किसी अधिकारी से मिलने के लिये जाता है । ऑफिस के दरवाजे पर खड़ा नौकर अपने अधिकारी को जाकर

१. *जागृद् दृश्यांँना भावानां वैतच्यम्, दृश्यमानत्वात् स्वप्नदृश्यभाववत् यथा अत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यम् तथा जागरितेऽपि वैतच्यम् स्मृतम् ।*
(शंकरभाष्य ३-४ गौड़पादीयकारिका)

सूचना देता है कि श्याम नाम का एक व्यक्ति आपसे मिलना चाहता है। ऑफिसर अपने नौकर से पूछता है कि श्याम नाम का व्यक्ति कहाँ है? नौकर अपने अधिकारी से कहता है कि, मैंने उसे देखा है उसने मुझ से ही कहा है कि वह आपसे मिलना चाहता है। ऑफिसर उसको नवीन वेदान्तों के विद्वानों के अनुसार ही उत्तर देता हुआ कहता है कि वह तुम्हें दिखाई दिया, उसने तुमसे कहा, इसी से तो प्रमाणित होता है कि तुम्हारी यह बात झूठ-मिथ्या है, वह ऑफिस के दरवाजे पर नहीं है, क्योंकि जो जो दिखाई देता है वह वास्तविक रूप से नहीं होता है जैसे स्वप्न में समीप दिखाई देनेवाला व्यक्ति आँख खुलने पर दिखाई नहीं देता है। वैसे जाग्रत अवस्था में दिखनेवाला (ऑफिस के दरवाजे पर खड़ा) श्याम व्यक्ति भी नहीं है उसका कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार संसार में दिखने वाले सभी पदार्थों का अस्तित्व नहीं है। ये सब मिथ्या है। इसी को जगत् मिथ्या कहकर वर्णन किया जाता है।

जिस विवर्त शब्द की कल्पना करके रस्सी को साँप समझने का उदाहरण देकर शंकराचार्य और उनके अनुयायी अद्वैतवादी यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि जैसे साँप की सत्ता नहीं है। वैसे ही जगत् का अस्तित्व नहीं है किन्तु उनके दिये हुये उदाहरण से ही स्पष्ट होता है कि अन्यत्र साँप का अस्तित्व होता है उसकी सत्ता होती है जिसके कारण उन्हें रस्सी को देखकर साँप का भ्रम होता है। यह ठीक है कि उस समय रस्सी में वहाँ साँप नहीं है किन्तु दूसरी जगह साँप अवश्य है जिसे व्यक्ति ने देखा हैं इसलिये टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी को देखकर उसे टेढ़े-मेढ़े पड़े हुए साँप का भ्रम होता है। यह ठीक है कि उस समय रस्सी में वहाँ साँप नहीं है किन्तु दूसरी जगह साँप अवश्य है जिसे व्यक्ति ने देखा है इसलिये टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी को देखकर उसे टेढ़े-मेढ़े पड़े साँप का भ्रम होता है। अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी को देखकर टेबल-कुर्सी या छाते का भ्रम नहीं होता अपितु सांप का ही होता है क्योंकि रस्सी और साँप में टेढ़ेपन की समानता है। यदि कहीं पर भी सांप का अस्तित्व नहीं होता और यदि मनुष्य ने कभी साँप

नहीं देखा होता· तो कभी-कभी उसे सांप का भ्रम न होता । रस्सी में साँप के भ्रम होने से ही सिद्ध होता है कि साँप की सत्ता है इसी प्रकार 'विवर्त' शब्द की कल्पना करके जिस जगत् को मिथ्या सिद्ध करनेवाले अद्वैतवादी विद्वानों को जगत् की यथार्थता इसका अस्तित्व इसकी सत्ता अवश्य ही माननी पड़ेगी । अपनी मनस्तुष्टि के लिये थोड़े समय इस जगत् को मिथ्या मान भी लें किन्तु दूसरी जगह तो जगत् का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ेगा जिससे उस यथार्थ जगत् के आधार पर इस जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के लिये रस्सी में साँप के भ्रम का उदाहरण दिया जाता है ।

स्वप्न का उदाहरण देकर भी लोगों को भ्रमित किया जाता है । जब कि वास्तविकता यह है कि जाग्रत अवस्था के अनुसार स्वप्न अवस्था होती है । जागते हुये मनुष्य जो देखता-सुनता है वे ही वस्तुएँ वह स्वप्न में देखता है । जो व्यक्ति जन्म से अन्धा होता है, जिसने कभी भी किसी पदार्थ को नहीं देखा है उसे स्वप्न में भी कोई वस्तु नहीं दिखती है । इससे स्पष्ट होता है कि जागृत अवस्था के अनुसार स्वप्न आते हैं, न कि स्वप्न अवस्था के अनुसार जागृत अवस्था । जागृत अवस्था में व्यक्ति का भाई या पुत्र अनेकों बार उसके पास खड़ा रहता है वे ही संस्कार स्वप्नावस्था में सक्रिय हो जाते हैं और स्वप्न में भी वैसा ही दीखने लगता है । इस विवेचन से भी यह स्पष्ट होता है कि स्वप्न में जो चीजें दिखाई देती हैं वे जागृत अवस्था में अवश्य होती है । यह वर्तमान संसार स्वप्न के अनुसार मिथ्या हैं तो जागृत अवस्था के अनुसार कहीं अवश्य ही यथार्थ संसार मानना पड़ेगा जिसके संस्कार इस वर्तमान संसार में स्वप्न के समान प्रतीत हो रहे हैं । अर्थात् कहीं न कहीं तो संसार की यथार्थता को स्वीकार करना ही पड़ेगा । जैसे बिना सांप का सत्ता को स्वीकार किये उसका भ्रम नहीं हो सकता वैसे ही जगत् की यथार्थ सत्ता को स्वीकार किये बिना उसका भ्रम नहीं हो सकता है ।

वस्तुतः सारा संार मिथ्या नहीं है अपितु अस्थिर है, चलायमान है, नित्य नहीं है, अनित्य है जैसा कि यजुर्वेद-४०/१ में लिखा है

"ईशा वास्यमिदं सर्व यत् किन्च जगत्यां जगत्"। अर्थात् ईश्व सर्वत्र विद्यमान है, नित्य है, ऐश्वर्यशाली है, यह जगत् चलायमान है अस्थिर है, अनित्य है, गतिशील है। संसार का प्रत्येक पदार्थ विनाश की ओर जा रहा है। जगत् को जगत् इसलिये कहते हैं कि "गच्छतीति जगत्" जो चल रहा है वह जगत् है संसरति इति संसारः जो संसरण कर रहा है वह संसार है। जगत् और संसार की अस्थिरता को अतिशयोक्ति रूप से इसे मिथ्या कह दिया जिससे लोगों में भ्रम हो गया है। यथार्थता यह है कि ब्रह्म का भी अस्तित्व है और जगत् का भी अस्तित्व है। अन्तर केवल इतना ही है कि चेतन ब्रह्म नित्य है और प्रकृति से बना हुआ जगत् अनित्य है, अस्थिर है किन्तु दोनों ही यथार्थ रूप में हैं।

अद्वैतवादी विद्वानों से जब यह प्रश्न पूछा जाता है कि - यदि सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है (एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति) तो यह संसार, संसार में विभिन्न पदार्थ और विभिन्न योनियों में विद्यमान प्राणी किस कारण दिखाई देते हैं। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यह जड़ जगत् और विविध प्रकार के प्राणी और मनुष्य दिखाई देते हैं। यह सब माया के कारण दिखलाई देता है। माया के दो कार्य है (१) आवरण (२) विक्षेप। जैसे जादूगर जादू दिखाता हुआ मिट्टी से रुपया पैसा बनाकर दर्शकों को रुपया पैसा दिखा देता है। जब कि वास्तव में वह रुपया नहीं होता है। मिट्टी के स्वरुप को छिपाना-आवरण है तथा मिट्टी के स्थान पर रुपया पैसा दिखना-यह दूसरा कार्य विक्षेप है। ठीक इसी प्रकार माया के कारण ब्रह्म के स्वरूप का छिपना-आवरण तथा ब्रह्म के स्थान पर जड़ जगत् और उसमें अनेक प्रकार के प्राणी और मनुष्यादि दिखना यह माया का दूसरा कार्य विक्षेप है जिसके कारण यह सब कुछ दिखता है।

किन्तु प्रश्न है कि माया को यदि गुण माने तो ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है तो यह गुण ब्रह्म का ही है। ब्रह्म का यह कैसा गुण है जिसके कारण सर्वज्ञ ब्रह्म अज्ञानी हो गया। जैसे सर्वज्ञ ब्रह्म, माया के

कारण अल्पज्ञ जीव बन गया। सर्वज्ञ ब्रह्म का अज्ञानी होना तो इसी प्रकार है कि जैसे प्रकाश के भण्डार सूर्य में अन्धेरे का होना। सूर्य में अन्धेरा नहीं तो सर्वज्ञ ब्रह्म में अज्ञान कैसे हो सकता है। माया ब्रह्म का गुण है तो गुण (माया) गुणी (ब्रह्म) का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है या संयोग सम्बन्ध है यह प्रश्न उपस्थित होता है। समवाय सम्बन्ध तो हमेशा रहता है जैसे अग्नि में दाहकता (जलाना) पानी में शीतलता। तो क्या इसी प्रकार माया का ब्रह्म के साथ समवाय सम्बन्ध होता है। यदि यह सम्बन्ध रहे तो माया ब्रह्म के साथ सदा रहेगी तो सर्वज्ञ ब्रह्म सदा अज्ञानी या अल्पज्ञ ब्रह्म रहेगा, चेतन ब्रह्म जगत् रूप में जड़ ही बनकर रहेगा। क्योंकि तिलों में से ही तेल निकलता है, रेत में से ही तेल नहीं निकलता है। तिल में तेल है इसलिये उनमें से तेल निकलता है। रेत में तेल नहीं है अतः उसमें से नहीं निकलता है। इस तरह शुद्ध ब्रह्म में पहले माया थी नहीं, अब आ गयी है। माया और ब्रह्म का यदि संयोग संबंध मानते हैं तो जब सर्वज्ञ ब्रह्म था ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं था, तब माया कहाँ थी और कहाँ से आ गयी क्योंकि अभाव से भाव तो नहीं होता तो अभाव से भाव हो गया फिर गुण बिना गुणी (द्रव्य) के नहीं रहता। तो ब्रह्म से पहले माया कहां थी, फिर ब्रह्म के साथ संयोग सम्बन्ध क्यों हुआ, ऐसा कैसा संयोग कि सर्वज्ञ ब्रह्म इसके (माया के) कारण अल्पज्ञ जीव बन गया। गुण हमेशा गुणी के अधीन रहता है जैसे अग्नि में दाहकता (जालाना) गुण अग्नि के अधीन हैं, अग्नि से पृथक् नहीं रहता है। ब्रह्म का गुण माया है तो यह ब्रह्म के अधीन (अनुशासन में) रहें किन्तु यहां तो विपरीत हो रहा है। गुण (माया) ने ही ब्रह्म को अपने अधीन कर लिया जिससे सर्वज्ञ ब्रह्म अल्पज्ञ जीव बन गया। यदि माया, द्रव्य (गुणी) है तो फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह जड़ है या चेतन है। यदि माया को जड़ मानते है तो चेतन ब्रह्म कितना शक्तिहीन या कमजोर है कि जड़ माया से इतना प्रभावित हो जाता है कि नित्य, आनन्द स्वरूप सर्वज्ञ ब्रह्म अल्पज्ञ रूप में अपने को अज्ञानी व दुःखी समझने लगता है। यदि माया चेतन है तो चेतन

तत्व दो (माया और ब्रह्म) हो गये फिर एक (अद्वैत) नहीं रहा । अतः 'एको ब्रह्म द्वितियो नास्ति' सिद्ध नहीं होगा । इस प्रकार अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनका समुचित समाधान अद्वैतवादी विद्वानों के पास नहीं है ।

माया शब्द का प्रयोग चारों वेदों में १०८ बार हुआ है किन्तु सभी जगह प्रज्ञा या विशेष ज्ञान के अर्थ में ही इसका प्रयोग हुआ है कहीं पर भी भ्रान्ति-भ्रम-अज्ञान या अविद्या आदि अर्थ में इसका प्रयोग नहीं हुआ है ।

वस्तुतः माया शब्द का प्रयोग -श्वेताश्वेतर उपनिषद् ४/१० में प्रकृति के लिये हुआ है, वहां स्पष्ट ही लिखा है "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायाविनं तु महेश्वरम्"।। अर्थात् माया को प्रकृति समझो और मायावी को ईश्वर समझो । ब्रह्म और माया से अर्थात् ईश्वर और प्रकृति से सृष्टि की रचना होती है । यह स्पष्ट होता है ।

जीव के विषय में अद्वैतवादियों का मत है कि "जीवो ब्रह्मैव नापरः।" अर्थात् जीव ब्रह्म ही है अन्य नहीं है । इसलिये "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ ऐसा उल्लेख उपनिषदों में है यह सिद्ध करते हैं। उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जैसे सूर्य एक है और दस बर्तन में पानी भरकर रखा है तो दस बर्तनों में सूर्य की परछाई दिखाई देने लगती है जैसे की दस सूर्य हैं किन्तु वास्तव में सूर्य तो एक ही है । वैसे ही ब्रह्म तो एक ही है किन्तु अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने वाले ब्रह्म को जीव कहा जाता है । वस्तुतः वह जीव ही ब्रह्म है किन्तु इस उदाहरण को देते समय वे भूल जाते हैं कि सूर्य और पानी का बर्तन एक दूसरे से दूर हैं, इसलिये सूर्य की प्रतिच्छाया, 'परछाई' पानी में पड़ती है । ब्रह्म तो सर्वव्यापक है उसकी दूरी न होने से परछाई का प्रश्न ही नहीं होता । फिर सूर्य स्थूल भौतिक पदार्थ है तथा पानी जिसमें परछाई पड़ती है वह भी स्थूल भौतिक पदार्थ है । क्या ब्रह्म भी स्थूल और भौतिक पदार्थ है । तथा अन्तःकरण भी स्थूल पदार्थ है जिसमें ब्रह्म की प्रतिछाया पड़ती है फिर अन्तःकरणवाले ब्रह्म को जीव कहते है वह अज्ञानी दुःखी और अन्तःकरणरहित ब्रह्म

सर्वज्ञ और आनन्द स्वरूप है, इस प्रकार ज्ञानी ब्रह्म को अज्ञानी, आनन्द के भण्डार को दु:खी ब्रह्म सिद्ध करते हैं जिसका भी कोई समाधान नहीं है ।

वेदादि शास्त्रों में ब्रह्म और जीव को पृथक्-पृथक् माना है । सृष्टि की रचना करनेवाले ब्रह्म (परमात्मा) को अनन्त सिर, अनन्त आँखों, अनन्त पैरोंवाला पुरुष कहकर सम्बोधित किया गया है । यह परमात्मा का आलंकारिक वर्णन है, यथार्थ में उसके हाथ पैरादि नहीं है इसलिए मंत्र में कहा कि वह दश अंगुलियों से परे है । अर्थात् वह दश अंगुलियों वाले तथा दो हाथों वाला पुरुष नहीं है[१]। दो हाथ और दश अंगुलियों वाला पुरुष जीवात्मा है । और अनन्त हाथ, पैर, सिर और आंखो वाला पुरुष ब्रह्म-परमात्मा है ।

योग दर्शन में ईश्वर और जीव की भिन्नता का वर्णन करते हुए लिखा है अविद्या-राग द्वेषादि क्लेश, शुभ और अशुभ कर्म इनके सुख-दु:ख रूप फल तथा शुभाशुभ कर्मों के संस्कारों से जो रहित है वह ईश्वर है[२]। अर्थात् राग द्वेषादि क्लेश शुभाशुभ कर्म, इनके फल तथा संस्कारों से प्रभावित होनेवाला पुरुष जीवात्मा है । वह परमेश्वर सर्वज्ञ है ।[३] परमात्मा आनन्द का भण्डार है उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है । जब कि जीवात्मा उसको प्राप्त करके आनंद का अनुभव करता है ।[४] परमात्मा सब जगह विद्यमान है । (ईशा वास्यमिदं सर्वम्... यजु.४०-१) जबकि जीवात्मा एक देशी तथा कर्मों का फल भोगनेवाला है । इसलिए जीवात्मा को भोक्ता कहा है ।[५]

सर्वज्ञ-सर्वव्यापक-सर्वशक्तिमान् आदि शब्द सापेक्ष हैं, एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं । श्रोता के बिना वक्ता, विद्यार्थी के बिना अध्यापक, रोगी के बिना चिकित्सक की कोई उपयोगिता नहीं है ।

---

१. *सहस्त्रशीर्षा पुरुष.......अत्यतिष्ठद् दशांगुलम् (यजु.३१-१)*
२. *क्लेश कर्म विपाकशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः (योग..)*
३. *तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् (योग.)*
४. *रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः (अथर्व. १०-८-४४)*
(यं.....लब्ध्वानन्दी भवति)
५. *आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः (कठो.)*

अर्थात् शिक्षक का मूल्यांकन विद्यार्थी के होने पर ही होता है। इ
प्रकार अल्पज्ञ-एकदेशी-अल्प शक्तिवाले जीवात्मा के होने पर ही
सर्वज्ञ, सर्वव्यापक ईश्वर (ब्रह्म) की महत्ता व उपयोगिता है। य
अल्पज्ञ जीव कोई हो ही नहीं तो सर्वज्ञ ब्रह्म का उपयोग किसलिए है
जब तक उपासक (जीव) न होगा तब तक उपास्य (ईश्वर) का क
महत्त्व या उपयोगिता है। अर्थात् जीव के अस्तित्व और पृथक्त्व
ही ईश्वर की महत्ता स्पष्ट होती है।

वेदादि शास्त्रों में जीवात्मा का ब्रह्म से पृथक् ही वर्णन कि
गया है। हे मनुष्य! तुम त्याग पूर्वक सांसारिक पदार्थों का भोग
(तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः यजु.४०-१) हे मनुष्य! इस संसार में क
करता हुआ ही सौ वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा कर। (कुर्वन्ने
कर्माणि जिजीविषेत्.... यजु.) गां मा हिंसी (यजु.१३-४३) अर्थ
गौ कि हिंसा मत करो। सत्यं वद-धर्म चर (तै.ति.१-११) इत्या
अनेक प्रमाण मिलते हैं जो जीवात्मा के ब्रह्म से पृथक् अस्तित्व
प्रमाणित करते हैं। यदि ऐसा न माने तो क्या परमात्मा ही परमात्मा
उपदेश करेगा कि तुम त्यागपूर्वक सांसारिक पदार्थों का उपभोग क
अर्थात् वेदादि शास्त्रों में पाए जानेवाले उपदेशात्मक वाक्य ब्रह्म
जीव की पृथक् सत्ता को सिद्ध करते हैं।

इतना ही नहीं वेदान्त दर्शन के प्रारम्भ में ही अर्थात् ब्रह्म जिज्ञा
सूत्र के द्वारा ही स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्म की जिज्ञासा अर्थात् जा
की इच्छा करनेवाला जीवात्मा पृथक् है और जिस ब्रह्म को जीवा
जानना चाहता है वह ब्रह्म जीवात्मा से पृथक् है।[१] यदि जीवात्मा
न माना जाए तो यह सूत्र निरर्थक सिद्ध होगा क्योंकि ब्रह्म
अतिरिक्त यदि जीव का अस्तित्व न माना जाए तो इस सूत्र का
अर्थ होगा ब्रह्म ब्रह्म को जानने की इच्छा करता है क्या व्यक्ति स्व
अपने कंधों पर चढ़ सकता है। ऐसा कोई स्वीकार कर सकता है
ऐसा कहनेवाला उपहास का पात्र ही होगा। इसलिए ईश्वर और जी
दोनों पृथक् पृथक् हैं। संसार का वर्णन करते हुए योग दर्शन

१. *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*

लिखा है[1] कि यह संसार भोग और उपवर्ग (मोक्ष) का साधन है संसार भोग्य अर्थात् इसका उपभोग किया जाता है । इसका उपभोग करनेवाला-सांसारिक पदार्थों का प्रयोग करनेवाला भोक्ता जीवात्मा है इसलिए कठोपनिषद् में जीवात्मा का भोक्ता (संसार का भोग करनेवाला) कहा है ।

भोक्ता और भोग के होने के साथ साथ इन दोनों नियमों या व्यवस्था में रखनेवाला कोई सर्वशक्तिमान् तत्व होना चाहिए । जिसे वेदादिशास्त्रों में ब्रह्म या परमात्मा कहा है । और यही भाव ऋग्वेद (१-१६४-२०) मंत्र में कहा गया है । सदा साथ रहनेवाले जीव और ईश्वर प्रकृति रुपी वृक्ष पर बैठे हैं जिनमें से एक जीव इस वृक्ष के सुख-दुःख रुपी फलों का भोग स्वाद ले रहा है और दूसरा-ईश्वर फलों का भोग न करता हुआ साक्षी रुप से चारों ओर से देख रहा है ।[2] अर्थात् जीवात्मा भोक्ता है प्रकृति से बना संसार भोग्य है और ईश्वर इनका द्रष्टा-साक्षी नियामक या व्यवस्थापक है- इन्हीं भावों को श्वेता में कहा कि संसार भोग्य जीवात्मा-भोक्ता और परमात्मा प्रकृति नियन्ता है[3]। इस सृष्टि रचन करनेवाला है ।

जैसा मकान का बनानेवाला (निमित्त/कर्ता) जिस ईंट सीमेंटादि से मकान बना वह (उपादान कारण) और मकान में रहनेवाला व्यक्ति साधारण कारण । इन तीनों के द्वारा ही मकान की पूर्णता उपयोगिता सिद्ध होती है वैसे ही सृष्टि का बनानेवाला ईश्वर (निमित्त कारण या कर्ता) सृष्टि जिस प्रकृति से बनी वह प्रकृति-माया (उपादान कारण) तथा सृष्टि जिसके लिए बनी वह जीवात्मा (साधारण कारण) ये तीनों ही आवश्यक महत्वपूर्ण और परस्पर सहयोगी हैं । इन तीनों के बिना संसार अधूरा है इसलिए इन तीनों के अस्तित्व को वैदिक मान्यताओं में ''वैदिक त्रैतवाद'' के नाम से जाना जाता है ।

---

१. *भोगापवर्गार्थंदृश्यम (योग. २-१८)*
२. *द्वा. सुपर्णा सयुजा .... अभिचाकशीति (ऋ. १-१६४-२०)*
३. *भोग्यं-भोक्ता प्रेरयिता रुप ..... १ श्वेता १-१२*

कर्मफल और पुनर्जन्म

जब कोई माता या पिता अपने पुत्र या पुत्री को दण्ड देते है तो उन्हें दण्ड देता हुआ देखकर प्रत्येक मनुष्य यही सोचता है कि सन्तान ने कोई अपराध किया है, जिसके कारण माता-पिता उसे दण्ड दे रहे हैं। क्योंकि बिना कारण कोई भी माता-पिता अपनी सन्तान को दण्ड नहीं देता है। इसी प्रकार हजारों विद्यार्थियों की उपस्थिति में विद्यालय का प्रधानाध्यापक किसी एक विद्यार्थी को मन्च पर बुलाकर पुरस्कार देता है, तो पुरस्कार प्राप्त करते हुए छात्र को देखने वाला प्रत्येक मनुष्य यही सोचता है कि इस विद्यार्थी ने कोई अच्छा कार्य किया है जिसके परिणाम स्वरूप इसे पुरस्कार प्राप्त हो रहा है।

किसी मकान की छत से निकलते हुए धुएं को देखकर मनुष्य अनुमान करता है कि इस मकान में आग लगी है। क्योंकि अग्नि के बिना धुंआ नहीं निकलता है, धुएं का कारण अग्नि है इसलिए धुंए को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। किसी रोगी के पेट या शिर में दर्द को देखकर चिकित्सक यह जानने का यत्न करता है कि किस कारण से इसको दर्द हो रहा है। इसे दर्शन शास्त्र में कार्य-कारण का सिद्धांत कहते हैं, अर्थात् कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है क्योंकि बिना कारण के कोई भी कार्य नहीं होता है। इसलिए संतान को देखकर उसके माता-पिता का अनुमान, नदी में आयीं हुई बाढ़ को देखकर वर्षा होने का अनुमान बालक को दण्ड और पुरस्कार प्राप्त करते हुए देखकर उसके शुभ और अशुभ कर्मों का अनुमान किया जाता है। जैसे बादलों को देखकर वर्षा होने का अनुमान, विद्या अध्ययन करते हुए विद्यार्थी को देखकर विद्यार्थी की परीक्षा में उत्तीर्ण होने का अनुमान किया जाता है। कारण से कार्य का और कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है।

कारण और कार्य के सिद्धांत को ही आध्यात्मिक शास्त्रों में कर्म फल व्यवस्था कहते हैं। मनुष्य जैसा कर्म करता है उसको वैसा ही

फल प्राप्त होता है[१] । मनुष्य को शुभ कर्मों का फल सुख और अशुभ कर्मों का फल दुःख के रूप में प्राप्त होता है । इसी का विवेचन करते हुए योगदर्शन में लिखा है कि मनुष्य को कर्मों का फल सुख और दुःख के रूप में प्राप्त होता है[२] । सुख का कारण उसके द्वारा किए हुए (पुण्य) शुभ कर्म है तथा (अपुण्य) अशुभ कर्मों के कारण वह दुःख के रूप में जाति, आयु और भोगो को प्राप्त करता है ।

यह संसार एक पाठशाला है जिसे देखकर मनुष्य बहुत कुछ सीखता है । जब संसार में मनुष्य किसी व्यक्ति को सुखी या दुःखी देखता है तो उसे सुखी या दुःखी देखकर सोचता है कि इस व्यक्ति के सुखी या दुःखी होने का कोई न कोई कारण अवश्य है क्योंकि विना कारण के कोई भी मनुष्य सुखी या दुःखी नहीं हो सकता है । सुख और दुःख का कारण उसके द्वारा किए जने वाले शुभ और अशुभ कर्म ही है। क्योंकि शुभ कर्मों का फल सुख एवं अशुभ कर्मों का फल दुःख के रूप में प्राप्त होता है । जीवात्मा को कर्म का फल क्यों प्राप्त होता है? क्या वह कर्म के फल से बच नहीं सकता है? इत्यादि प्रश्नों का समाधान करते हुए शास्त्राकार ने लिखा है कि जीवात्मा कर्मों को करता है तथा कर्म करने में जीवात्मा को स्वतंत्रता है कि वह किसी कार्य को करे या न करे अथवा विपरीत कर्म करे किंतु कर्म करने के बाद फल भोगने में परतंत्र है । कर्म का फल कर्ता को ही मिलता है, जो कर्म का कर्ता नही है उसे फल भी प्राप्त नहीं होता है। इसलिए जीवात्मा को कर्ता और भोक्ता दोनो ही कहा गया है। कर्म करने के कारण जीवात्मा को वेद में "क्रतु" कहा गया है[३]। कर्म करने में कर्ता स्वतंत्र होता है कर्ता का कर्तत्व भी इसी में है कि वह कार्य को करने, न करने या विपरीत करने में स्वतंत्र होता है[३]

---

१. *अवश्यमेव भोक्ताव्यं कृतं कर्म शुभाशुभ ।*
ते हलादपरितापफलाः पुण्यापुण्य हेतुत्वात् ।। (योग २-१४)

२. *कर्मप्रधान विश्व करि राखा,*
जो जस करहि सो तस फल चाखा (गोस्वामी तुलसीदास)

३. *ओ३म् कतो स्मर कृतं स्मर..... (वायु. प.)*
स्वतंत्रः कर्ता । (पाणिनीय - १.४)

जीवात्मा कर्म करता है तथा कर्म के करने में स्वतंत्र है जैसे परी भवन में बैठा हुआ परीक्षार्थी प्रश्नों का उत्तर लिखने, न लिखने त विपरीत लिखने में स्वतंत्र है वैसे ही जीवात्मा कर्मों को करने में अ न करने में स्वतंत्र है किंतु प्रश्नो के उत्तर लिखने के बाद परीक्षक उत्तर पुस्तिका देने के बाद अंकों को प्राप्त करने या न करने में स्वतंत्र नहीं है। उसकी इच्छा के अनुसार उसे अंक नहीं प्राप्त होते । अपितु प्रश्न के उत्तर उसने जैसे लिखे हैं उसी के अनुसार वह अं प्राप्त करता है। इसलिए ऋषि दयानंद ने लिखा है कि जीवात्मा क करने में स्वतंत्र है और फल भोगने में परतंत्र है। जीवात्मा शुभाशु कर्मों का फल भोगता है इसलिए शास्त्र में उसे 'भोक्ता' कहा ग है।[1]

कर्म फल व्यवस्था से यह भी स्पष्ट है कि कर्मों का फल दे वाला सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का अस्तित्व भी है, जो सारे संसार अपनी व्यवस्था में रख रहा है।[2] क्योंकि व्यवस्थापक के बि व्यवस्था नहीं हो सकती है कोई भी चोर चोरी कर के पुलिस स्टेश नहीं जाता है कि मैने चोरी की है मुझे पकड़ लो या दण्ड दो। चोर को पकड़ने वाला और दण्ड देने वाला सरकार का पुलिस

विभाग होता है क्योंकि प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य इसलिए राजा अपने कर्मचारियों के द्वारा अपराधियों को पकड़ दण्ड देता है जिससे सामान्य जनता सुखपूर्वक रहती है। इसी प्रक संपूर्ण विश्व का संचालक परमात्मा अशुभ कर्म करने वाले प्राणियों दण्ड देता है और शुभ करने वालों को सुख देता है। परमा सर्वोपरि और सर्वशक्तिमान् है कोई भी मनुष्य उसके अनुशासन उल्लंघन नहीं कर सकता है। उसे अपनी व्यवस्था को चलाने के लि किसी सहायक की आवश्यकता नहीं पड़ती है। उसका ज्ञान, ब और क्रिया स्वभाविक है।[3] लौकिक न्याय व्यवस्था में तो मनुष्य

१. *कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् यः स्वतत्रः सः कर्ता*
२. *आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तया हु र्मनीषिणः*
३. *विश्वस्य मिषतो वशी....... (ऋग्वेद)*

फल न्यून या अधिक प्राप्त हो सकता है क्योंकि न्यायाधीश अपना न्याय प्रमाण तर्क और साक्षी (गवाह) के अनुसार करता है किंतु परमात्मा को न्याय करने के लिए किसी दूसरे साक्षी (गवाह) पर नहीं रहना पड़ता है अपितु परमेश्वर ही न्यायाधीश है और वही साक्षी भी है[१] क्योंकि सर्वव्यापक होने से प्रत्येक प्राणी के शुभाशुभ कर्मों को देखता और जानता है इसलिए उसके न्याय में कर्मों का फल देने में थोड़ी भी न्यूनता या अधिकता नहीं होती है। इसलिए कोई भी मनुष्य वृद्ध नहीं होना चाहता है या मरना नहीं चाहता है किन्तु युवावस्था के बाद वृद्धावस्था भी सभी की आती है और वृद्धावस्था के पश्चात् मृत्यु भी सभी की होती है। मनुष्य दुःख नहीं चाहता है किंतु उसे दुःख भी प्राप्त होते हैं जो उसके अशुभ कर्मों का फल है। इस प्रकार कर्म फल व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने वाला विश्व नियन्त्रा परमात्मा है। परमात्मा जीवात्मा को कर्मों का फल देकर उनका कल्याण ही करता है।

शुभ कर्मों का फल सुख देकर मनुष्यो को शुभ कर्म करने की प्रेरणा देता है तथा अशुभ कर्मों का फल दुःख देकर, अशुभ कर्मों को न करने की प्रेरणा अथवा अशुभ कर्मों से दूर रहने की प्रेरणा देता है। शुभाशुभ कर्मों के फल सुख दुःख के द्वारा परमात्मा जीवात्माओं का सुधार करना चाहता है। जैसे अध्यापक परीक्षा में सर्वोच्च अंकों को प्राप्त करके उत्तीर्ण होने वाले छात्र को पुरस्कार देकर सभी छात्रों को पढ़ने की प्रेरणा देता है तथा अनुशासन हीनता करने वाले उद्दण्ड छात्र को दण्ड देकर अनुशासन न तोडने की प्रेरणा सभी छात्रों को देता है वैसे ही परमात्मा सुख-दुःख देकर जीवात्माओं को सत् कर्म को करने की प्रेरणा देता है।

राजा अपने राज्य की प्रजा को सुरक्षित रखने के लिये नियम (कानून) बनाता है। जो व्यक्ति राज्य के नियमों का पालन करता है जिससे राज्य में रहने वाले मनुष्य सुरक्षित एवं सुखी रहते हैं। ऐसा

---

३. स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया च...... ॥ (श्वेता....)

२. अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ (ऋ. १-१६४-२०)

व्यक्ति राजा के सहयोग करता है तथा राज्य के नियमों का पालन करता है। इसके विपरीत जो आचरण करता है जिससे राज्य की प्रजा को कष्ट होता है, राज्य के नियमों का उल्लघंन करने वाला व्यक्ति राजद्रोही होता है। राजद्रोही व्यक्ति को राजा दण्ड देता है। इसी प्रकार विश्व के नियन्ता परमेश्वर ने विश्व का संचालन जिन नियमों के अनुसार कर रखा है जिससे सभी प्राणियों को सुख प्राप्त होता है, किसी भी प्राणी के जीवन में बाधा उपस्थित नहीं होती है उन नियमों का पालन करना या उनके अनुसार कर्म करना शुभ कर्म है, जिसका फल मनुष्य को सुख के रूप में प्राप्त होता है। जो मनुष्य अपने कर्म द्वारा दूसरे प्राणी की जीवन यात्रा में बाधा डालता है, परमात्मा की सन्तत्ति को कष्ट पहुंचाता है, सृष्टि क्रम के विरुद्ध आचरण करता है, परमात्मा की कानून व्यवस्था में बाधा डालता है, उसे परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार दुःख प्राप्त होता है। प्राणीमात्र के सुख के लिए विश्वनियन्ता परमात्मा ने जो नियम बनाये हैं उनके अनुसार आचरण करने से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है। परमात्मा के नियम उसका बनाया हुआ संविधान है, जो वेद के नाम से जाना जाता है।[१] वेद में जो विधि (कर्म करने का) और निषेध (जिन कर्मो को न करने का) उल्लेख किया है। उसी के अनुसार आचरण करना चाहिए।

कर्म का फल मनुष्य को क्यों प्राप्त होता हैं? क्या कर्म के फल से मनुष्य कभी बच नहीं सकता है। ऐसे अनेक प्रश्न मानव मस्तिष्क में उपस्थित होते रहते हैं। यदि कर्म का फल मनुष्य को न मिले तो एक क्षण के लिए भी संसार की व्यवस्था नहीं चल सकती है। विद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थी विद्या अध्ययन इसलिए कर रहे हैं कि पढ़ने का फल उन्हें प्राप्त होगा। यदि यह व्यवस्था न हो और विद्यार्थियों को यह पता लग जाये कि पढ़ने का कुछ भी फल प्राप्त नहीं होगा न कोई परीक्षा होगी, न कोई उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण होगा, तो कोई भी विद्यार्थी विद्या अध्ययन नहीं करेगा। न कोई परीक्षा

१. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनु.

तैयारी करेगा । किसान खेत में गेहूँ या चने के बीज इसलिए डालता है कि उसे फसल के रूप में चने या गेहूँ प्राप्त होंगे । अनाज के बीज बोने वाले किसान को यह ज्ञात हो जाय कि बीज खेत में डालने से अनाज नहीं प्राप्त होगा तो कौई भी किसान खेत में बीज नहीं बोयेगा । इसीप्रकार खेत में काम करनेवाले मजदूर को अपना कर्म का फल मजदूरी न मिले तो कोई भी मजदूर काम नहीं करेगा । इस प्रकार कर्म का फल मिले बिना कोई व्यवस्था नहीं चल सकती है । कर्म के फल से कभी नहीं बचा जा सकता है । इसलिए कहा गया है कि कर्म अपने फल का भोग कराये बिना पीछा नहीं छोड़ता है।[१]

कर्मों का विवेचन करते हुए योगदर्शन में लिखा है[२] कि कर्म दो प्रकार के है- एक निष्काम कर्म तथा दूसरे सकाम कर्म । निष्काम कर्म तो ईश्वर या मोक्ष की प्राप्ति के लिए बिना किसी फल की इच्छा के लिए किए जाते है । लोक कल्याण और कर्तव्य पालन की दृष्टि से किए जाते हैं । ऐसे कर्म जो बिना किसी लौकिक फल की इच्छा के लिए किए जाते हैं। जिसका प्रभाव कर्म योगी पर नही पड़ता है वे निष्काम कर्म कहलाते हैं। कर्मयोगी तो स्वधर्म (कर्तव्य) पालन की दृष्टि से ही इस कर्म को करता है ।

सकाम कर्म के तीन भेद हैं (१) शुभ कर्म (पुण्य) (२) अशुभ कर्म (पाप) कर्म (३) मिश्रित कर्म, जिसमें पाप और पुण्य दोनों का मिश्रण होता है । निष्काम कर्म का फल तो मोक्ष के रूप में प्राप्त होता है किंतु सकाम कर्मों का फल सुख-दुःख के रूप में प्राप्त होता है । सकाम कर्मों में दूसरों की रक्षा करना, दूसरों की सेवा करना, सहायता करता, दूसरों के साथ सत्य एवं मधुरता का व्यवहारादि करना शुभ (पुण्य) कर्म कहलाता है । इनका फल मनुष्य को सुख रूप में प्राप्त होता है तथा इन शुभ कर्मों के विपरीत आचरण को अशुभ (पाप) कर्म कहते हैं उनका फल मनुष्य को दुःख के रूप में प्राप्त होता है । खेती, व्यापारादि सांसारिक कर्म करते हुए मनुष्य से शुभाशुभ

१. *ना भुक्ते क्षीयते कर्म ।*
२. *कर्माशुक्लाकृष्णां योगिनस्त्रिविद्यमितरेषाम् । योग.४-७*

(पुण्यपाप) दोनों ही कर्म हो जाते हैं । किसी प्राणी से इन कर्मों से सुख मिलता है तो किसी को कष्ट भी होता है । इसलिए इन्हें मिश्रित कर्म कहा गया है । इनका फल सुख और दु:ख दोनों रूप में प्राप्त होता है । कर्म का फल कब मिलता है, कितना मिलता है और कैसे मिलता है इसको पूर्णतया तो परमात्मा ही जानता है क्योंकि यह उस की व्यवस्था है किन्तु शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने इस विषय को स्पष्ट करने का यत्न किया है ।

कर्म का फल मिलने में कभी-कभी बहुत ही विलम्ब होता है कभी-कभी यह भी देखने को मिलता है कि, मनुष्य अच्छा कर्म करता है फिर भी दु:खी रहता है तथा कोई कोई अशुभ कर्म करनेवाले दूसरो को दु:ख देनेवाले व्यक्ति भी सुखी दिखते हैं । इसलिए मनुष्य को सन्देह होने लगता है कि, परमात्मा के द्वारा भी न्याय ठीक तरह से नहीं होता है । पुण्यात्मा दु:खी है और पापी लोग सुख भोग रहे हैं ।

इस विषय में गंभीरता से विचार करने से स्पष्ट होता है कि परमात्मा की न्याय व्यवस्था में कोई न्यूनता नही है तथा कोई विलम्ब भी नही है। कर्म का फल पकने पर प्राप्त होता है । अर्थात् कर्म के फल मिलने में समय तो अवश्य लगता है, क्योंकि परीक्षा में प्रश्न पत्र का उत्तर लिखते ही परीक्षार्थी को परीक्षा परिणाम नहीं प्राप्त होता है, उत्तर पुस्तिका को परीक्षक जांचता है प्रश्नों के अंक देता है लब्धांक । पत्र तैय्यार होता इस सारी व्यवस्था होने के बाद ही परीक्षा परिणाम घोषित किया जाता है । किसान को खेत में बीज डालते ही अनाज फसल के रूप में प्राप्त नहीं होता है । इसलिए कर्मों के शास्त्रकारों ने तीन विभाग किए है । (१) क्रियमाण (२) सञ्चित (३) प्रारब्ध

मनुष्य जो कर्म करता है, वर्तमान में किया जानेवाला कर्म 'क्रियमाण कर्म' कहलाता है । जो कर्म किया जा चुका है जो फल देने की स्थिति में नहीं है उस कर्म को 'सञ्चित कर्म' कहते हैं । परीक्षार्थी परीक्षा भवन प्रश्नों के जब उत्तर लिखता है तब वह उसका क्रियमाण

कर्म है, तथा प्रश्नों के उत्तर लिखकर जब परीक्षार्थी ने उत्तर पुस्तिका अध्यापक को दे दी तब उसका कर्म 'सञ्चित कर्म' की श्रेणी में आ जाता है । जब कर्म का फल प्राप्त होता है तब उसे ''प्रारब्ध'' कहते हैं । जब परीक्षार्थी को परीक्षा परिणाम प्राप्त होता है तब उसे ''प्रारब्ध कर्म'' कहते है । इस प्रकार कर्म को क्रियमाण से प्रारब्ध तक पहूँचने में समय लगता है, जब समय हो जाता है तो कर्म का फल अवश्य प्राप्त होता है । किस कर्म का फल कब प्राप्त होता है यह मनुष्य के ज्ञान से परे है । किसी कर्म का फल शीघ्र तो किसी कर्म का फल बहुत देर से प्राप्त होता है । एक किसान एक ही दिन खेत में पालक की सब्जी बोता है जो उसे दो तीन मास में पालक प्राप्त हो जाता है, उसी दिन गन्ना बोता है तो उसे एक वर्ष पश्चात् गन्ना प्राप्त होता है तथा उसी दिन किसान खेत के एक हिस्से में आम की गुठली बोता है तो उसे चार-पाँच वर्ष बाद आम प्राप्त होते हैं । इस विषय में यह कुतर्क नहीं किया जा सकता है कि, पालक तीन मास में किसान को प्राप्त होता है तो आम और गन्ना भी तीन चार मास में मिलने चाहिए। क्योंकि तीनों पदार्थों (पालक, गन्ना, आम) को किसान ने एक ही दिन बोये थे । अतः स्पष्ट है कि किसी कार्म का फल शीघ्र और किसी कर्म का फल विलम्ब से प्राप्त होता है किंतु फल प्राप्त अवश्य होता है, कर्म का फल पकने अर्थात् एक निश्चित प्रक्रिया के पूरी होने पर प्राप्त होता है। जैसे एक चोर ने चोरी की, जिसके घर चोरी हुई उसने पुलिस स्टेशन जा कर रिपोर्ट लिखवायी, पुलिस ने आकर जिसके घर चोरी हुई, उस घर को देखा लोगों से पूछताछ, जांच पड़ताल की । घरवालों से किसी पर चोरी होने के विषय में पूछा । इस तरह पुलिस ने चोर को ढूढंने की प्रक्रिया प्रारम्भ की । उधर जिस चोर ने चोरी की थी व उस शहर को छोड़कर किसी दूसरे शहर चला गया, चोरी में उसे प्रर्याप्त धन प्राप्त हो गया। अतः उसे अपने जीवन निर्वाह के लिए धन की आवश्यकता नहीं रही और वह अपने पारिवारिक भरण पोषण से निश्चिन्त होकर सामाजिक सेवा और परोपकार के कार्यों में व्यस्त रहने लगा । इधर चोर पुलिस का पीछा करके उस शहर में

पहूँच गयी और चोर को पकड़ कर हथकड़ी लगाकर गिरफ्तार क लिया। सामाजिक सेवा और परोपकारी कार्यों में संलग्न व्यक्ति के हाथ में हथकड़ी देखकर उसका पडोसी चिल्लाता है और कहता है कि कितना अन्याय है कि एक भले व्यक्ति को पुलिस पकडकर हथकड़ी लगा रही है।

पड़ोसी की दृष्टि उस स्थान पर रहने वाले व्यक्ति के साल-दो साल के कार्य और व्यवहार पर ही जाती है। इससे पहले वह व्यक्ति जिस स्थान से आया है, वहाँ से क्या करके आया है। यह वर्तमान में पास में रहने वाले व्यक्ति को पता नहीं लगता है। ठीक उसी प्रकार पिछले जन्म से इस जन्म में मनुष्य जो भी शुभाशुभ कर्म करके आया है, इस जन्म के साथी मनुष्यों को ज्ञात नहीं है कि वह पूर्व जन्म में क्या करके आया है। इसलिए मनुष्य परमेश्वर की व्यवस्था पर संदेह करता है किंतु परमेश्वर सभी प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों को जानता है इसलिए पिछले जन्म का शुभाशुभ कर्मों का फल इस जन्म में या अगले जन्म मे सुख-दुःख रूप में प्राप्त होता है। कर्म का फल इसी जन्म मे और अगले जन्म मे भी प्राप्त होता है यही योग दर्शन मे लिखा है।[१]

कर्म का फल उस को प्राप्त तो होता है किंतु जब वह कर्म फल देने की स्थिति में आजाय, उसका परिपाक हो जाय अथवा क्रियमाण कर्म जब प्रारब्ध बन जाय है तब उसका फल प्राप्त होता है। कर्म का फल आयु-जाति (भोग के रूप में प्राप्त होता है)[२] इस जन्म मे किए हुए कर्मों का फल अगले जन्म में मनुष्य पशु-पक्षी-कीट-पतंगादि की जाति के रूप में प्राप्त होता है। विविध प्राणियों के शरीर भी शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सभी शारीरिक अंगों से युक्त-स्वस्थ-सुन्दर शरीर या शारीरिक अंगो में न्यूनता अन्धा-बहरा-कुरूप या जन्म से विविध रोगों से ग्रस्त शरीरादि को प्राप्त करता है। विविध प्राणियों

१. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः। (योग २-१२)
२. सति मूले तद् विपाको जात्यायु र्भोगाः॥ (योग २-१३)

के शरीर (जाति) के साथ उस उस शरीर की आयु भी कर्मों के अनुसार होती है। जैसे मनुष्य शरीर की आयु सामान्य रूप से सौ वर्ष की होती है । जीवेम शरदः शतम् (वेद) । कर्मों का फल जाति (शरीर) आयु के साथ भोग भी कर्मो के अनुसार प्राप्त होता है । मनुष्य शरीर को प्राप्त करके कोई व्यक्ति बहुत सुख व दुःख के भौतिक साधनो का उपभोग कर रहा है तो कोई मनुष्य शरीर से ठीक है किंतु दस-दस पैसे लिए तरसता है, दूसरों के आगे हाथ फैलाता है। एक कुत्ता हवाईजहाज में घूम रहा है तो एक मनुष्य रेलगाड़ी में भी बैठ नही पा रहा है। भोगो में न्यूनाधिकता कर्मों के ही कारण होती है । कर्मो का फल इस जीवन में ही मिलता है।

कर्म का फल मनुष्य को अवश्य भोगना पडता हैं[१] इस से मनुष्य कभी नहीं बच सकता है जब तक यह वैदिक विचार धारा प्रचलित रही तब तक मनुष्य का नैतिक जीवन बहुत अच्छा रहा, मनुष्य पाप से डरता रहा और पुण्य कर्मों को करता रहा । वैदिक धर्म के प्रचार में न्यूनता आने के कारण अनेक अंधविश्वास और मिथ्या परम्पराएं प्रचलित हो गयी । उन्हीं परम्परा में ''क्षमावाद'' के विचार प्रचलित हो गए। लोगों में यह प्रचलित कर दिया गया कि परमात्मा हमारे पाप को क्षमा कर देता है। इससे संबधित अनेक श्लोको की रचना कर दी गयी। यहां तक लिख दिया गया कि सैकडों किलोमीटर दूर बैठे-बैठे ''गंगा'' शब्द बोलने से मनुष्य के सारे पाप समाप्त हो जाते हैं। और मनुष्य विष्णु लोक (स्वर्ग) को प्राप्त करता है ।[२] इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि मनुष्य पाप कर्मों में अधिक प्रवृत्त हो गया । क्योंकि उसे विश्वास हो गया कि परमात्मा की भक्ति करने से, उसका जयघोष करने से या तीर्थ यात्रादि करने से सारे पाप समाप्त हो

---

३. *अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम् ।*
मुञ्चते सर्व पापेभ्यो विष्णु लोकं स गच्छति ॥

१. *गंगा गंगेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि ।*
मुञ्च्यते सर्वपापेब्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥

जायेंगे। यही विचार धारा सभी सम्प्रदायिक लोगों ने प्रचलित की। ईसाइयों और मुसलमानों ने भी यही प्रचार किया कि ईसा और कुरान पर विश्वास करने से सारे पाप समाप्त हो जायेगे।

जब मनुष्य ईश्वर की भक्ति के नाम पर पाप कर्म में प्रवृत्त हो गये तब विचारशील लोगों ने धर्म और ईश्वर का विरोध किया, कि ईश्वर के मानने वालों का जीवन पाप कर्म से लिप्त होता है। ऐसे लोगो को दृष्टि में रखकर किसी ने ठीक ही लिखा है कि -

खुदा के बन्दो को देखकर ही खुदा से मुनकिर हुई है दुनिया
जिस खुदा के ऐसे बन्दे है, वह खुदा कोई अच्छा खुदा नहीं

इसलिए मानव जीवन को श्रेष्ठ और पवित्र बनाने के लिए कर्मफल के सिद्धांत को मानना होगा। मनुष्य का शरीर जब कर्म करने और फल भोगने के योग्य नहीं रहता है तब जीवात्मा उस शरीर को छोडकर नये शरीर को धारण कर लेता है क्योंकि शरीर का प्रयोजन ही कर्म करना तथा कर्म का फल भोगना है। (भोगायतन शरीरम्) जब ये दोनों प्रयोजन जीर्ण हुए शरीर में पूरे नहीं होते हैं तो जीवात्मा जीर्ण शरीर को छोडकर नये शरीर को धारण करता है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए गीता में लिखा है कि जैसे पुराने कपड़े को छोडकर मनुष्य नये कपड़ों को पहनता है वैसे ही जीवात्मा जीर्ण हुए शरीर को छोडकर नये शरीर का धारण करता है।[१] जीवात्मा का एक शरीर को छोड़ना और दूसरे को धारण करना ही पुनर्जन्म कहते है। जो व्यक्ति पैदा हुआ है इसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु हुई है उसका जन्म भी निश्चित होता है।[२] इस प्रकार जीवात्मा एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर को प्राप्त करता है, इस शरीर से जिन कर्मों को करता है उनका फल इस जन्म मे नही प्राप्त होता है तो अगले जन्म में प्राप्त होता है इसलिए कर्मों का फल भोगने के लिए पुर्नजन्म

१. *वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति - नरोऽपराणि ॥*
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्या निसंयाति नवानि देही ॥

२. *जातस्य ही ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥ (गीता)*

होता है ।

पुर्नजन्म के विषय में प्रायः शंका होती है कि पुर्नजन्म होता है तो पिछले जन्म की याद क्यों नहीं आती है? यदि पिछले जन्म की याद सभी को आ जाय तो अनेक समस्याएं उपस्थित हो सकती हैं जैसे पिछले जन्म में मनुष्य जिस परिवार में था, उसकी स्मृति यदि इस जन्म में भी रहे तो पिछले जन्म के परिवारिक सदस्य पुत्र पत्नी पति-भाई-बहनादि के साथ वह मोहग्रस्त हो जायेगा तथा पिछले जन्म के परिवारिक सदस्य भी उसे छोड़ना नहीं चाहेंगें । इस जन्म में जिस परिवार में जन्म हुआ है, उस परिवार के सदस्य भी उसे नही छोड़ना चाहेंगे, इस प्रकार दोनों परिवारों में अपने अपने परिवार में रखने के लिए संघर्ष होगा । इस संघर्षमय वातावरण में नया जन्म पाने वाले व्यक्ति का विकास रुक जायगा और वह "किं कर्त्तव्यमूढ" हो जायगा कुछ भीं सोचने और कार्य करने में समर्थ नहीं रहेगा । इसलिए परमात्मा ने ऐसी व्यवस्था की कि मनुष्य को पिछले जन्म की स्मृति नहीं रहती है । इतना ही नहीं यदि पिछले जन्म में जिस परिवार के साथ उस व्यक्ति की शत्रुता थी और इस जन्म में उसी परिवार में उसका जन्म हो गया और यदि उसे पिछले जन्म की स्मृति उपस्थित हो जाय कि यह परिवार तो मेरा शत्रु है तब इस जन्म के परिवारिक सदस्य जो उसके माता-पिता भाई-बहन आदि के रूप में हैं उनके प्रति इस नया जन्म ग्रहण करने वाले व्यक्ति में सदा घृणा-ईर्ष्या-द्वेष और अपने माता पिता के प्रति अच्छा व्यवहार नहीं करेगा । यदि पिछले जन्म में मनुष्य-पशु-पक्षी-सांप-बिच्छु आदि योनियों में था और इस जन्म में वह मनुष्य शरीर को प्राप्त करता है और पिछली स्मृति उस को आजाय तब भी दुःखी होगा । इस जन्म में निर्धन परिवार में पैदा हो जाये और पिछले जन्म में वह धनवान परिवार मे था, हर प्रकार के सुख एश्वर्य को उसने भोगा, उसकी याद उसे है और उसे इस जन्म में सुख सुविधाएं नही प्राप्त हो रही है तो भी व्यक्ति बहुत दुःखी

रहेगा । इस तरह पिछले जन्म की स्मृति आ जाने से अनेक समस्याएं उपस्थित हो जाती है । इसलिए परमात्मा पिछले जन्म और इस जन्म के बीच में जब जीवात्मा गर्भ में रहता है तब उस समय अज्ञान का ऐसा पर्दा डालता है कि पिछले जन्म की यादें (स्मृतियां) समाप्त हो जाती हैं । तथा जन्म होने के बाद वह नया जीवन प्रारंभ करता है पिछले जन्म की ही स्मृति नहीं अपितु इस जन्म की भी अनेक भयानक घटनाएं जो उसके सामने घटती है वे भी उसे याद नहीं रहती है । यदि सारी घटनाएं याद रहे तो वह कोई भी कार्य आगे नहीं कर सकता है । विगत घटनाओं को भूलना मनुष्य की उन्नति में सहायक है इसलिए पिछले जन्म की यादें मनुष्य या किसी प्राणी में नहीं रहती है।

बिना कारण के कोई भी कार्य नहीं होता है वह ''सर्वमान्य सिद्धांत'' है तो एक व्यक्ति जन्म से ही बुद्धि से तेज है, तो एक बुद्धि से कमजोर है । एक जन्म से ही स्वस्थ-सुंदर और एक जन्म से रोगग्रस्त-कुरूप है। कोई स्वभाव से क्रोधी, तो कोई लोभी, कोई उदार हृदय का, कोई जन्म से अंधा, तो कोई गूंगा, कोई बहरा आदि अनेक भिन्नताए देखने को मिलती है । उसका कारण मनुष्य के पिछले जन्म के किए हुए कर्म हैं जिनके कारण उसे इस जन्म में फल मिल रहा है क्योंकि कर्म का फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है । परमात्मा न्यायकारी है । कर्म किए बिना किसी कारण किसी को अंधा और किसी को दोनो आंखो वाला नहीं बनाता है । इस जन्म में मनुष्य में भिन्नता तथा अन्य प्राणियों के शरीर पिछले जन्म में किए हुए शुभाशुभ कर्मों की ओर संकेत देते है । इस विविधता से कर्मफल और पुर्नजन्म की मान्यता स्पष्ट होती है ।

संस्कार

आज राष्ट्र के विकास के लिये वैज्ञानिक आविष्कारों की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है । भौतिक विज्ञान के इन आविष्कारों का जब प्रयोग नहीं होता था तब मनुष्य अपनी यात्रा पैदल, बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी या ऊंट आदि के द्वारा करता था, जिसमें थोड़ी सी दूर की यात्रा करने में भी बहुत समय लगता था । आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य बस, कार, ट्रेन या हवाई जहाज से हजारों मील की यात्रा कुछ ही घण्टों में पूरी कर लेता है । पहले मनुष्य को अपना सन्देश भेजनें में कई दिन लग जाते थे आज विदेशों में बैठा हुआ मनुष्य टेलीफोन से तत्काल बात कर लेता है । टेलीविजन (दूरदर्शन) पर घर में बैठा हुआ ही दूर देश में घटनेवाली घटनाओं को देख लेता है । आश्चर्य जनक उन्नति वैज्ञानिक क्षेत्र में हो रही ही । जिससे सारे संसार से सम्बन्धित जानकारी मनुष्य शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ।

इस देश की उन्नति के लिये देश के कोने कोने में रेल्वे लाईन बिछाई जा रही है । प्रत्येक ग्राम तक सड़क का निर्माण तथा टेलिफोन के तार लगाये गये । रेड़ियो स्टेशन और टी. वी. सेन्टर का निर्माण स्थान-स्थान पर हो रहा है । जिससे ग्राम में रहनेवाला व्यक्ति भी विश्व में होनेवाली घटनाओं की जानकारी प्राप्त कर रहा है । विद्युत और सौर ऊर्जा से अधिकाधिक लाभ लेने के लिये विविध योजनाओं का सूत्रपात हो रहा है । मनुष्य के शारीरिक कष्टों को दूर करने के लिये चिकित्सालय, चिकित्सा यन्त्र तथा औषधि निर्माण के लिये बड़ी बड़ी फैक्टरियों (रसायन शालाओं) का निर्माण हो रहा है । इसलिये आज मनुष्य अपनी उन्नति या समाज या राष्ट्र के विकास या उन्नति के लिये भौतिक साधनों को प्राप्त करने, या इनका उपयोग करने के लिये यत्र, तत्र, सर्वत्र प्रयत्नशील दिखाई दे रहा है ।

वैदिक ऋषियों का दृष्टिकोण इससे थोड़ा पृथक् रहा है । ऋषियों के अनुसार वैज्ञानिक साधनों का निर्माण या उपयोग करना अनुचित

नहीं है किन्तु ऋषियों की मान्यता है कि वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करनेवाले मनुष्य का निर्माण भी आवश्यक है । यदि मनुष्य ने वायुयान बना डाला किन्तु वायुयान चलानेवाले मनुष्य का चारित्रिक निर्माण नहीं किया तो वायुयान में पेट्रोल के स्थान पर लोभ, लालचवश पानी भर दें तो वह वायुयान सैकड़ों व्यक्तियों के जीवन के विनाश का कारण हो जाता है। इसलिये वायुयान के साथ-साथ वायुयान के निर्माण करनेवाले व्यक्ति का भी निर्माण करना चाहिये । इसी प्रकार औषधि का निर्माण जीवन की रक्षा के लिये, रोगों को दूर करने के लिये किया जाता है । यदि औषधि में मूल्यवान द्रव्यों के स्थान पर घटिया स्तर के द्रव्यों का प्रयोग करके निष्क्रिय औषधि बनायेगा या औषधियों में भी मिलावट कर देगा तो, जिससे जीवन सुरक्षित करनेवाली औषधियां ही जीवन के विनाश का कारण बन जायेगी ।

इस प्रकर वैज्ञानिक आविष्कार मानव कल्याण के स्थान पर मानव के विनाश के साधन हो जायेंगे । आज वैज्ञानिकों ने ऐसे बम बना डाले हैं कि जिस से सारे संसार का शीघ्र ही विनाश हो सकता है। सभी प्रभुता सम्पन्न देश एक दूसरे को, इन विनाशकारी तत्वों के द्वारा एक दूसरें को विनाश की धमकियां भी देते रहते हैं । सज्जनता के अभाव में मनुष्य वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग विनाश के लिये करने लगता है । जबकि श्रेष्ठ मानव इन आविष्कारों को मानव कल्याण में उपयोग करता है । विनाशकारी तत्वों के निर्माण में इतना धन व्यय हुआ है कि उससे कई वर्षों तक विश्व के मानवों की भूख, प्यास बुझायी जा सकती है । इसलिये वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ इनका सदुपयोग करनेवाले श्रेष्ठ मानवों की भी आज उतनी ही आवश्यकता है जितनी वैज्ञानिक साधनों की है । श्रेष्ठ मानव के विना राष्ट्र निर्माण नहीं हो सकता है ।

श्रेष्ठ मानव के निर्माण की क्या रूप रेखा हो, किस प्रकार से यह महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहिये, इस विषय में वैदिक ऋषियों ने गहन

चिन्तन किया है और मानव निर्माण की प्रक्रिया को एक "संस्कार" शब्द से व्यक्त किया है । संस्कार शब्द सम्, उपसर्गपूर्वक कृ धातु से बनता है । जिस का अर्थ "संस्क्रियते अलंक्रियते अनेन इति संस्कारः" अर्थात् जिससे शरीर, मन और आत्मा अलंकृत सुशोभित या परिष्कृत होते हैं, उत्तम और श्रेष्ठ होते हैं उसे संस्कार कहते हैं । महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में संस्कार शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "संस्कार उसको कहते हैं कि जिससे शरीर मन और आत्मा उत्तम होवें ।"

संस्कार के विषय में चरक संहिता में महर्षि चरक ने लिखा है कि "संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते" अर्थात् पहले से विद्यमान दोषों को निकालकर उसमें सद्‌गुणों को डाल देना या उस व्यक्ति को सद्‌गुणों से सम्पन्न कर देने को संस्कार कहते हैं । बालक के दोषों को निकाल कर उसे सद्‌गुणों से युक्त कर देना जिससे उसका शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा बने, मन में पवित्रता हो जिससे वह सत्कर्मों को करके शारीरिक और आत्मिक उन्नति करता हुआ शरीर मन और आत्मा को सद्‌गुणों से अलंकृत करे ।

अग्नि में डालने से जैसे सोने, चांदी, लोहे आदि धातुओं का मैल नष्ट हो जाता है और ये सब धातुएं शुद्ध और निर्मल हो कर सद्‌गुणों से युक्त जीवनदायी रसायन बन जाती हैं वैसे ही संस्कारों के द्वारा बालक या बालिका के विगत जन्म के अशुभकर्मों के वासनारूपी दोषों को हटाकर उसे सद्‌गुणों से युक्त किया जाता है जिससे वह मानव जीवन के लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त करने में सफल हो जाता है ।

संस्कार के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है कि संस्कार के द्वारा मनुष्य द्विज कहलाता है (संस्काराद् द्विज उच्यते) संस्कारों की आवश्यकता और महत्त्व बतलाते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने "संस्कार विधि" में लिखा हैं कि "जिसे करके शरीर आत्मा संस्कृत

होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होती है, इसलिये संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है ।

मनुष्य शुभ या अशुभ जो भी कर्म करता है उसके सूक्ष्म संस्कार उसके चित्त (मन) पर पड़ते हैं जो उसके अगले शुभ या अशुभ कर्म को करने में सहयोगी होते हैं । वे सूक्ष्म संस्कार उसे शुभाशुभ कर्म को करने के लिये प्रेरित करते हैं । मनुष्य पहली बार झूठ बोलते हुए घबराता है किन्तु दूसरी बार झूठ बोलने या चोरी करने में उसे उतना भय नहीं लगता और धीरे-धीरे उसका भय कम हो जाता है और एक समय ऐसा आ जाता है कि निर्भय होकर वह झूठ बोलता या चोरी करता है । यदि उस व्यक्ति के झूठ को कोई पकड़ लेता है और उससे कहता है कि तुम असत्य बोल रहे हो तो वह उस व्यक्ति से कहता है कि मैं नहीं तुम असत्य बोल रहे हो । ऐसा क्यों होता है? प्रत्येक बार बोला जाने वाला असत्य उसके ऊपर अपने सूक्ष्म संस्कार डाल जाता है और व्यक्ति निर्भय होकर असत्य बोलने लगता है । इसी प्रकार शुभ कर्म के संस्कार भी धीरे-धीरे मन पर पड़ते जाते हैं और व्यक्ति को अगले शुभ कर्म को करने के कारण बन जाते हैं ।

जब मनुष्य की मृत्यु होती है । तब जीवन भर किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों के सूक्ष्म संस्कार अर्थात् वासना या प्रवृत्ति भी जीवात्मा के साथ जाती है । ये प्रवृत्तियां वासनाएं या संस्कार जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर में अंकित रहती हैं, सूक्ष्म शरीर जीवात्मा के साथ जन्म जन्मान्तरों तक, जब तक मुक्ति नहीं हो जाती है तब तक रहता है । अथवा सृष्टि के प्रलय काल तक रहता है । इसलिये जब बच्चे का जन्म होता है तब वह अपने साथ पिछले जन्म के अच्छे बुरे दोनों प्रकार के संस्कार (वासना या कर्म की ओर प्रेरित करनेवाली प्रवृत्ति) भी लाता है । माता पिता और गुरु अपने सद्विचारों से, सत्कर्मों के प्रभाव से बच्चे के शुभ संस्कारों को विकसित करने का प्रयास करतें हैं जिससे वह सद्गुणों से युक्त होकर श्रेष्ठ मानव बन

जाय । बालक या बालिका के पिछले जन्म की अशुभ वासना या प्रवृत्तियों को नष्ट करना तथा शुभ प्रवृत्तियों को विकसित करने का कार्य इन संस्कारों द्वारा माता पिता और गुरु करते हैं । ये तीनों मानव निर्माण की सर्वश्रेष्ठ प्रयोगशाला हैं (मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद । - शतपथ ब्राह्मण) जिनसे निकलकर मनुष्य एक आदर्श राष्ट्रीय नागरिक बनता हैं और राष्ट्र के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान करता है ।

संस्कारों का संकेत मूल रूप में वेदों में विद्यमान है ऋषियों ने वैदिक ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवेचन किया हें । आश्वलायन गृह्यसूत्र, आपस्तम्ब तथा कौषीतकी आदि अनेक गृह्यसूत्रों में संस्कारों का वर्णन है । अश्वलायन गृह्यसूत्र में १) विवाह २) गर्भलम्बन ३) पुंसवन ४) सीमन्तोनयन ५) जातकर्म ६) नामकरण ७) अन्नप्राशन ८) चौल (चूड़ाकर्म) ९) वेदारम्भ १०) गोदन (केशान्त) ११) समावर्तन १२) अन्त्येष्टि इन तेरह संस्कारों का वर्णन है । जबकि पारस्कर गृह्यसूत्र में चौदह संस्कारों का उल्लेख हैं। गृह्यसूत्र में निष्क्रमण संस्कार तथा कर्णवेध संस्कार का आश्वलायन गृह्यसूत्र में वर्णित संस्कारों से अधिक वर्णन है जबकि इसमें अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन नहीं है जो आश्वलायन गृह्यसूत्र में वर्णित सभी गृह्यसूत्रों में कुछ भिन्नता है । मनुस्मृति में भी चौदह संस्कारों का उल्लेख है जो इस प्रकार है । १) गर्भाधान २) जातकर्म ३) नामकरण ४) निष्क्रमण ५) अन्न प्राशन ६) चूड़ा कर्म ७) उपनयन ८) केशान्त ९) वेदारम्भ १०) समावर्तन ११) विवाह १२) वानप्रस्थ १३) संन्यास १४) अन्त्येष्टि

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने संस्कार विधि में १६ संसकारों का वर्णन किया है जो इस प्रकार है । १) गर्भाधान २) पुंसवन ३) सीमन्तोनयन ४) जातकर्म ५) नामकरण ६) निष्क्रमण ७) अन्नप्राशन ८) चूड़ाकर्म ९) कर्णवेध १०) उपनयन ११) वेदारम्भ १२) समावर्तन १३) विवाह १४) वानप्रस्थ १५) संन्यास १६) अन्त्येष्टि

महर्षि ने संस्कारों के महत्व का उल्लेख करते हुए लिखा है कि

विचारशील बुद्धिमानों का यह परम कर्तव्य है कि वे समय समय पर उत्तम शिक्षा तथा कर्तव्य बोधन के द्वारा और औषधियों के द्वारा मानव जीवन को सुखों से भरपूर करनेवाले संस्कारों को विधिपूर्वक श्रद्धा से करते कराते रहें ।[१]

मनुष्य के जन्म से पहले ही तीन संस्कार हो जाते हैं । गर्भस्थ शिशु शरीर से स्वस्थ और पुष्ट रहे इसके लिये माता पिता गर्भाधन और पुंसवन संस्कार के समय अच्छा पौष्टिक भोजन करते हैं । बच्चे का मानसिक विकास अच्छा हो, उसका हृदय अच्छे भावनात्मक विचारों से ओतप्रोत हो, इसलिये माता भी अच्छे विचारों से युक्त रहें, अच्छे ग्रन्थों का स्वाध्याय करें, इस ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये सीमन्तोनयन संस्कार किया जाता है । मां के विचारों का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है इसका प्रसिद्ध उदाहरण महाभारत की वह घटना है जब अभिमन्यु सुभद्रा के गर्भ में था तब अर्जुन ने उसे चक्रव्यूह के भेद करने की कथा कही थी । अभिमन्यु चक्रव्यूह को तोड़ता हुआ उसमें प्रवेश करने में सफल हुआ । इस घटना से विदित होता है कि माता के अच्छे बुरे विचारों का प्रभाव सन्तान पर पड़ता है । इसलिये सन्तान के निर्माण के लिये अच्छे संस्कारों और विचारों का चिन्तन माता करती रहे । मनस्मृति में लिखा है कि गर्भवती स्त्री जिस प्रकार के विचारों की तस्वीर अपने मन में खींच लेती है उसी प्रकार की सन्तान को जन्म देती है, इसलिये उत्तम सन्तान के लिये स्त्री को ऐसे वातावरण में रखना चाहिये जिससे सन्तान उत्तम और शुध्द संस्कारों की हो[२]।

सन्तान के जन्म होने पर उसका जात कर्म संस्कार किया जाता है ।। पिता सोने की शलाका से मधु से बालक की जिह्वा पर

---

१. *अतः संस्कार करणे क्रियतामुद्यमो बुधैः*
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्धनैः ।। (संस्कार विधि भूमिका)

२. *यादृशं भजते नारी सुतं सूते तथाविधम् ।*
तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थ स्त्रियं रक्षेत् यत्नतः ।। (मनु. ९-९)

परमात्मा का नाम 'ओ३म्' लिखकर बालक को शिक्षा दे रहा है कि हे मेरे पुत्र या पुत्री! इस मानव जीवन का लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त करना है जिसके लिये तू जन्म जन्मान्तरों से तपस्या करता रहा है, उस परमेश्वर का मुख्य नाम 'ओ३म्' है। इसका उच्चारण इस जिह्वा से करना, उसको प्राप्त करना। अपनी वाणी में मधु जैसी मधुरता - मिठास रखना । वाणी की मधुरता से शत्रु भी मित्र बन जाता है, इसलिये वाणी से अच्छे नपे तुले शब्दों का उच्चारण करना । सत्य बोलना किन्तु अप्रिय सत्य न बोलना[१], बोलना इस तरीके से कि सुननेवाले को बुरा न लगे । पिता बालक को अपने जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिये दृढ़ता का उपदेश भी इस संस्कार कें समय देता है । ''अश्मा भव, परशु र्भव, हिरण्मयस्तृतं भव'' इन वाक्यों को बोलता हुआ पिता संकेत दे रहा है कि मेरे पुत्र या पुत्री तू अपने लक्ष्य में चट्टान की भांति दृढ रहना, ईश्वर की उपासना के मार्ग पर जब तुम चलोगे तब नाना प्रकार के भौतिक प्रलोभन तुम्हें ईश्वर कि ओर जाने से रोकेंगे । जब जब सत्य - न्याय और धर्म के मार्ग पर चलोगे तब तब अनेक विघ्न और बाधाएं आयेंगी, किन्तु तुम पत्थर के समान दृढ़ रहना, मजबूत रहना, निश्चित ही तुम अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होगे । विघ्न और बाधाओं को तेज कुल्हाड़े (फरसे) के समान दूर करते हुए निरन्तर आगे बढ़ते जाओगे, तब तुम सोने की भांति चमक उठोगे । जैसे मनुष्य सोने को संभालकर रखते हैं वैसे ही तुम्हारे जीवन को संभाल कर रखेंगे । इस प्रकार की भावना पिता बालक के जन्म लेते ही व्यक्त करता है । बालक के धरती पर कदम रखते ही उसका बौध्दिक निर्माण प्रारम्भ हो जाता है ।

बालक के जन्म के ग्यारहवें अथवा एकसौ एक वें दिन या जन्म के दूसरे वर्ष के प्रथम दिन बालक का 'नामकरण' संस्कार किया जाता है। जीवन में प्रत्येक वस्तु का ज्ञान नाम के द्वारा होता है इसलिये बालक या बालिका को किस नाम से पुकारा जाय क्योंकि विश्व में सारे

१. *सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्.*

व्यवहार नाम के आधार पर ही चलते हैं इसलिये उसका नाम रखा जाता है। नाम किस प्रकार का रखना चाहिये, कौन कौन से अक्षर नाम में होने और न होने चाहियें, इस विषय में शास्त्रों में विस्तृत रूप से उल्लेख है । नाम हमेशा सार्थक हो, ऐसा नाम हो जो हमेशा उसे अपने कर्तव्य का स्मरण कराता रहे, गौरवशाली हो । ऐसा कोई भी नाम नहीं रखना चाहिये कि जिस नाम वाले व्यक्ति ने इतिहास में प्रतिकूल आचरण किया हो । जैसे कोई भी अपने लड़के का नाम रावण, कंस या दुर्योधन नहीं रखता है । इस संस्कार में भी आध्यात्मिक भावना भरी है कि पिता आकांक्षा करता है कि मेरा पुत्र या पुत्री संसार में इतनी उन्नति करे कि दुनियां के लोग इसके बारे में चर्चा किया करें कि अरे यह कौन है ? यह किसका लड़का या लड़की है ?[१] इत्यादि, माता-पिता अपनी सन्तान के विषय में क्या सोचते हैं यह इन संस्कारों के द्वारा ज्ञात होता है ।

नामकरण संस्कार के पश्चात् बालक के जन्म के चौथे महीने में 'निष्क्रमण संस्कार' किया जाता है । यह छठा संस्कार है । अब तक बच्चा घर की चार दिवारी में बन्द था अब उसे प्राकृतिक वातावरण में घर से बाहर निकालना है । बालक के शारीरिक और मानसिक विकास के लिये सूर्य का प्रकाश, वायु आदि की आवश्यकता है । इस संस्कार में सृष्टि की दो महान् विभूतियों सूर्य और चन्द्र के दर्शन बालक को कराये जाते हैं । प्रकृति के खुले वातावरण का आनन्द ले सके और उसका शरीर प्राकृतिक ऋतु परिवर्तनादि के अनुकूल बन सके । जिससे अनुकूलता और प्रतिकूलता को सहन करने के योग्य हो सके । इसलिये यह संस्कार किया जाता है ।

बालक के जन्म के छटे महीने में 'अन्नप्राशन' संस्कार किया जाता है, यह सातवां संस्कार है । बच्चे का जन्म होने पर उसे मां का दूध मिलता है । उस समय बच्चे को अन्न चबाने के लिये उसके पास

---

१. *कोऽसि? कतमोऽसि? कस्यासि? (नामकरण संस्कार)*

दांत भी नहीं होते हैं और न ही अन्न पचाने की शक्ति उसमें होती है। उस समय उसके लिये जो आवश्यक भोजन था उसकी व्यवस्था परमात्मा ने उसके लिये मां के दूध के रूप में की। किन्तु जैसे जैसे आयु बढ़ी, मां का दूध बालक के लिये पर्याप्त न रहा तब उसको भोजन की आवश्यकता होती है और प्रथम बार भोजन खिलाने को 'अन्नप्राशन' कहते हैं। अन्न ऐसा हो जो बालक के लिये पुष्टिकारक बुद्धिवर्धक और रोगरहित हो। शरीर का प्रत्येक अंग स्वस्थ और बलवान तथा रोग से रहित हो इस प्रकार का भोजन होना चाहिये। यह शिक्षा इस संस्कार के अवसर पर दी जाती है। जीवन को बनाये रखने के लिये भोजन करना है, न कि भोजन के लिये ही जीना है। यह संकेत इस संस्कार के द्वारा दिया जाता है।

बालक के जन्म के पहले या तीसरे वर्ष में चड़ाकर्म या मुण्डन संस्कार किया जाता है। जन्म के समय के बालों का मुण्डन कर देना, उनको साफ कर देने के लिये यह संस्कार होता है। बच्चे के जब दांत निकलने लगते हैं तब दातों का प्रभाव सिर पर पड़ता है और सिर भारी होने लगता है। सिर को हल्का और ठण्डा रखने के लिये सिर पर से बाल उतार ने के लिये चूड़ाकर्म संस्कार करते हैं। बच्चा जब गर्भ में रहता है तब उसके बाल आजाते हैं और वे मलिन जल में रहते हैं मलिन केशों को साफ करने के लिये मुण्डन संस्कार होता है।

बालक के जन्म के तीसरे या पांचवे वर्ष में 'कर्णवेध' संस्कार किया जाता है। कान में छेद करना या कान को बींध देने को कर्णवेध कहते हैं। आयुर्वेद के अनुसार कान के छेदने से अन्त्रवृद्धि (Harnia) रोग नहीं होता है। सुश्रुत में कहा है कि शंख अर्थात् कनपटी से ऊपर कान के अन्त में सीवन अर्थात् जोड़ को छोडकर व्यत्यय से नस को बींघने से अन्त्रवृद्धि (हार्निया) निवृत्त हो जाती है।[१] व्यत्यय का अर्थ है दाहिनी तरफ की अन्त्र वृद्धि को रोकने के लिये

---

१. *शंखोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्।*
व्यत्यासात् वा शिरांविध्येत् अन्त्रवृद्धिनिवृत्तये॥ (सुश्रुत चिकित्सा स्थान अ.१९ २१)

बायें कान को बीधें, बायीं तरफ की अन्त्रवृद्धि को रोकने के लिये दायें कान को बीधें। इस के साथ ही पिता इस संस्कार के द्वारा अपनी सन्तान को यह उपदेश भी दे रहा है कि तू कानों से अच्छे शब्दों को सुनना, आंखों से अच्छी वस्तुओं को ही देखना।[१] अर्थात् तेरे कर्ण नेत्रादि इन्द्रियों में पवित्रता हो। बालक के निर्माण का प्रारम्भ में विशेष ध्यान रखना होता है। यह तो कच्ची मिट्टी के समान है जैसा ढालना चाहेंगे ढल जायेगा अतः पांच वर्ष तक की अवस्था तक इसके नौ संस्कार हो जाते हैं।

जब बालक पढ़ने के लिये गुरु के पास जाता है तब उसका 'उपनयन' संस्कार किया जता है। उप अर्थात् समीप, नयन अर्थात् ले जाना, अर्थात् गुरु के समीप ले जाना। यह संस्कार विद्या के मन्दिर में प्रवेश करने का द्वार है। संस्कृत में नयन को नेत्र-आंख कहते हैं उपनयन अर्थात् उपनेत्र, अब बालक अपने नेत्र से नहीं देखेगा अपितु गुरु के नेत्र से देखेगा। क्योंकि बालक की दृष्टि धुंधली होती है उसको सही और गलत का कुछ पता नहीं लगता इसलिये गुरु उसे सही और गलत का ज्ञान कराता है। जैसा गुरु कहता है वैसा ही वह करता है गुरु को आचार्य कहते हैं। आचार्य इसलिये कहते हैं कि वह शिष्य को आचरण-व्यवहार सिखाता है, आचरण (Goodbehave) को सिखाने की जिम्मेदारी लेता है। इस संस्कार का मुख्य कर्म यज्ञोपवीत धारण करना है। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण के बालक का पांचवें, क्षत्रिय का छठे और वैश्य के बालक का आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करना चाहिये। यज्ञोपवीत (जनेऊ) में तीन धागे होते हैं उनको गुरु पहनाते हुए संकल्प लेता है कि मैं इसके शरीर, मस्तिष्क और चित्त (हृदय) को विकसित करने का प्रयत्न करूँगा। मस्तिष्क अर्थात् बौद्धिक विकास करके इसको ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी बनाते हुए - चित्त अर्थात् आध्यात्मिक विकास के

१. *भद्रं कर्णेभिःश्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजित्राः (यजु. २५-२१)*

द्वारा यह दूसरों में अपने को, अर्थात् दूसरे के दुःख को अपना समझकर उसको दूर करने में अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का उपयोग करके विश्व निर्माण में योगदान कर सकेगा। कितनी ऊँची कल्पनाओं को लेकर गुरु बालक का उपनयन करके उसके निर्माण में अपने आप को लगा देता था।

गुरु शिष्यों के सुमधुर सम्बन्धों का आभास भी इस संस्कार की प्रक्रियाओं के द्वारा पता लगता है। जनेऊ में तीन धागे - आध्यात्मिक - आधिदैविक और अधिभौतिक तीन दुःखों को दूर करने की प्रेरणा देते हैं। मनुष्य पर माता-पिता और गुरु इन तीनों का ऋण होता है जो पितृऋण, ऋषिऋण और देवऋण के नाम से जाना जाता है, उसको उतारने की प्रेरणा देता है। जीवन में अविद्या अन्याय और अभाव का दुःख है इससे संघर्ष करने और इन्हें समाप्त करने की प्रेरणा भी इनके द्वारा मिलती है। प्राचीन काल में लड़कियों का भी यज्ञोपवीत होता था। लड़कों के समान लड़कियां भी वेदाध्ययन करती थीं। मध्यकाल में अनेक कुरीतियों के समान यह कुरीति भी प्रारम्भ हुई कि लड़कियों को नहीं पढ़ना चाहिये और इसी के साथ इनका उपनयन होना भी बन्द हो गया। वेदों की अनेक ऋषिकाएं मन्त्रद्रष्टा हुई हैं। वाण भट्ट ने (जो सातवीं शताब्दी में हुआ है) अपने ग्रन्थ कादम्बरी में महाश्वेता का वर्णन करते हुए लिखा ही कि उसने यज्ञोपवीत पहन रखा हैं।[१]

उपनयन संस्कार के साथ ही 'वेदारम्भ' संस्कार किया जाता है यदि उस दिन अनुकूलता न हो तो दूसरे दिन और दूसरे दिन भी अनुकूलता न हो तो उपनयन संस्कार करने के बाद में एक वर्ष के भीतर किसी भी दिन वेदारम्भ संस्कार किया जा सकता है। वेदों का अध्ययन गुरु प्रारम्भ करता है। यज्ञोपवीत धारण कराते समय गुरु गायत्री मन्त्र द्वारा उपदेश देता है।[२] वेदारम्भ संस्कार में बालक को

---

१. *ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम् (कादम्बरी)*
२. *ओ३म् भू र्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।*
धियो यो नः प्रचोदयात् (गायत्री मन्त्र)

कर्म करने, दिन में शयन न करने विद्याध्ययन करने आदि का उपदेश दिया जाता है । विद्याध्ययन करने के बाद विद्यार्थी जब गुरु के पास से घर लौटता है तब उसका 'समावर्तन' संस्कार करते हैं । बालक की आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन और वेदारम्भ संस्कार होता है ओर उसके बाद ठीक १४ या १६ वर्षों के बाद समावर्तन संस्कार होता है। विद्यार्थी के घर जाते समय गुरु उपदेश देता है कि सत्य बोलना, धर्म का पालन करना, स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद न करना आदि.. यह एक तरह से आज के विश्वविद्यालयों में होने वाले दीक्षान्त समारोह समावर्तन संस्कार का परिवर्तित रूप है ।

समावर्तन संस्कार के बाद 'विवाह संस्कार' किया जाता है । यह बालक के २५ वर्ष की आयु में किया जाता है । योग्य व्यक्ति ही गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे । यह लड़के-लड़की के गुणकर्म स्वभाव के अनुसार होना चाहिये जिससे गृहस्थ जीवन दोनों का ही अच्छा हो । प्रतिकूल स्वभाव होने पर प्रतिदिन कलह होगा, दोनों दुःखी रहेंगे और सन्तान निर्माण का उत्तरदायित्व का पालन भी नहीं कर सकेंगे । इसीलिये प्राचीन काल में स्वयंवर की प्रथा थी । लड़की अपने स्वभाव के अनुकूल लड़के का चयन करती थी । आज विपरीत स्थिति हो गयी है । जिसका परिणाम दहेज व आत्महत्या जैसी बिभीषकाएं समाज को निगल रही हैं ।

वानप्रस्थ संस्कार-जब पचास वर्ष की आयु हो जाय, लड़के के भी लड़के हो जायं तब गृहस्थ की सारी जिम्मेदारी पुत्र को सौंपकर व्यक्ति तपस्वी जीवन बिताने के लिये वन में प्रस्थान करता है तब वानप्रस्थ संस्कार किया जाता है ।

जीवन की ७५ वर्ष की आयु में संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के लिये 'संन्यास' संस्कार किया जाता है । इस संस्कार में मनुष्य अपनी पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा का परित्याग करके विश्व कल्याण के लिये अपना सर्वस्व त्याग करके काषाय वेश धारण कर लेता है और शिखा और यज्ञोपवीत भी उतार देता है । निरन्तर भ्रमण

करता हुआ उपदेश करता रहता है और भिक्षाटन द्वारा अपना जीवन व्यतीत करता है ।

अन्त्येष्टि संस्कार - जब जीवात्मा शरीर छोड़कर चला जाता है अर्थात् मृत्यु होने पर 'अन्त्येष्टि' संस्कार किया जाता है । पंच भौतिक तत्वों से शरीर बना है और अन्त में यह इन्हीं तत्वों में विलीन हो जाय इसके लिये अन्त्येष्टि संस्कार किया जाता है । शरीर अन्त में भस्म हो जाता है[१] ऐसा वेद में लिखा है । इस दृष्टि से शरीर का अग्नि दाह (अग्नि में जलाना) प्राकृतिक पर्यावरण की दृष्टि से भी उचित है । ईसाई, यहूदी और मुस्लिम सम्प्रदायों में शव को जमीन में गाढ़ने की प्रथा है, पारसी लोग मुर्दे को हवा में खुला छोड़ देते हैं । हिन्दुओं में भी कुछ सम्प्रदायों में संन्यासी के शव को जल में प्रवाहित किया जाता है । किन्तु इन सब में शव का अग्निदाह करना ही बुद्धि एवं तर्कसंगत प्रतीत होता है ।

मरने के पश्चात् जीवात्मा का इस शरीर और परिवार के साथ किसी भी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है । मरनेवाला जीवात्मा अपने कर्मानुसार अगले शरीर (योनि) में चला जाता है उसे पिछला कुछ भी स्मरण नहीं रहता है । जैसे हमको भी पिछला कुछ भी स्मरण नहीं है । इसलिये मृत जीवात्मा के निमित्त श्राद्ध पिण्डदान द्वादशाहादि कर्म करना निरर्थक, तर्कहीन और अवैदिक है इसलिये इन्हें नहीं करना चाहिये ।

---

१. *भस्मान्तं शरीरम्.... (यजुर्वेद ४०-१५)*

धर्मो रक्षति रक्षितः।

मनुष्य के द्वारा सुरक्षित धर्म ही
मनुष्य की रक्षा करता है।